पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

प्रवृत्तियाँ

१. अनुसन्धान

२. अध्यापन व निर्देशन

३. पुस्तकालय व वाचनालय

४. शोधवृत्तियाँ

५. छात्रावास व छात्रवृत्तियाँ

६. श्रमण (मासिक)

७. व्याख्यानमाला

८. प्रकाशन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

प्रवृत्तियाँ

१. अनुसन्धान

२. अध्यापन व निर्देशन

३. पुस्तकालय व वाचनालय

४. शोधवृत्तियाँ

५. छात्रावास व छात्रवृत्तियाँ

६. श्रमण (मासिक)

७. व्याख्यानमाला

८. प्रकाशन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला

: ९ :

जीवन-दर्शन

गोपीचन्द धाड़ीवाल

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जै ना श्र म
हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी-५

सम्पादक :
डा० मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९६७

मूल्य :
तीन रुपये

समर्पण

संसार के किसी भी क्षेत्र और किसी भी काल

की

उन महान् आत्माओं को

जिन्होंने

अपने उदाहरण और उपदेश द्वारा

जीवन-दर्शन

अर्थात्

ऐहलौकिक और पारलौकिक

सुख का मार्ग

अहिंसा-संयम-तप

बताया

सम्पादकीय

प्रस्तुत पुस्तक श्री गोपीचन्द धाड़ीवाल के कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्धों के संग्रह के रूप में है। ये सभी निबन्ध संस्थान से प्रकाशित होनेवाले जैन-विद्या के मासिक पत्र 'श्रमण' में प्रकाशित हो चुके हैं। निबन्धों की विचार-धारा अति सन्तुलित एवं प्रेरणाप्रद है। लेखक का यह सम्यक् विश्वास है कि धर्म में परलोक सुधारने के जो उपाय बताये गये हैं वे ही इस लोक में अर्थात् इस जीवन में सुख, सफलता एवं शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। इसी प्रकार जो बातें परलोक बिगाड़नेवाली मानी जाती हैं वे इस लोक में भी घातक हैं। वस्तुतः सांसारिक जीवन और धार्मिक जीवन अलग नहीं है।

लेखक ने जो कुछ भी लिखा है, प्राचीन जैन ग्रन्थों का आधार लेते हुए लिखा है। प्रत्येक लेख की पृष्ठभूमि मे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ज्ञान रहा है।

पुस्तक के पृ० ६ पर जिन पाँच प्रश्नों की चर्चा है वे क्रमशः आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष के रूप में है। जीव और अजीव के साथ इनको मिलाने पर सात तत्त्व बनते हैं। पृ० १० पर सिद्ध व अरिहंत तथा पृ० १२ पर आचार्य, उपाध्याय और साधु की चर्चा है। ये पाँचों 'पंच परमेष्ठी' कहलाते हैं।

श्री धाड़ीवालजी ने अपना निबन्ध-संग्रह संस्थान को प्रकाशनार्थ प्रदान किया एतदर्थ संस्थान उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है। इस निबन्ध-संग्रह मे पाठकों को धर्म के सम्यक् रूप के विषय में सोचने-समझने की प्रेरणा अवश्य प्राप्त होगी। यह प्रेरणा उनके जीवन-दर्शन का निर्माण करेगी।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५
६-५-६७

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

भूमिका

धर्म तभी सार्थक माना जा सकता है जबकि वह हमें इसी जीवन में सुख दे। केवल परलोक में सुखदायक होने की आशा पर उसे आज कोई नहीं पूछ सकता। आजकल हमें जो भी धर्मोपदेश दिये जाते हैं वे केवल परलोक में फल की अपेक्षा से ही दिये जाते हैं इसलिए धर्म पर श्रद्धा और धर्म का प्रभाव उठते जाते हैं।

धर्म इस जीवन में भी सुखदायी है, इसमें सन्देह नहीं, पर जिस रूप में धर्म बताया जाता है या आचरित होता है, उस रूप में वह सुख का दाता कदापि नहीं हो सकता। वह केवल एक प्रथा मात्र है।

जीवन पर प्रभाव उसी वस्तु का हो सकता है जो पूरे जीवन का अंग हो, जो जीवन की प्रत्येक क्रिया को प्रभावित करे, न कि उस वस्तु का जो स्थान या समय विशेष के लिए अपने सुभीते के अनुसार धारण कर ली जाय। इसके सिवाय जीवन का अंग भी वह तभी बन सकती है जब वह वास्तविकता की, वर्तमान परिस्थितियों की अपेक्षा रखे, और यह भी तभी संभव हो सकता है जब उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनानुभवों से हो।

वास्तव में देखा जाय तो धर्म का आधार मनुष्य के जीवन का अनुभव ही है, न कि किसी अपुरुष की परोक्ष वाणी या किसी महान् आत्मा के मन की गढ़ी हुई आज्ञाएँ। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति धर्म के तत्त्वों को अपने निजी अनुभवों के आधार पर ही समझ सकता है और श्रद्धा प्राप्त कर सकता है। एक प्रकार से धर्म मनोविज्ञान का विषय है। वास्तव में महान् तीर्थंकरों ने अपने निजी अनुभवों द्वारा ही कि किस प्रकार मनुष्य सुखी हो, धर्म के सिद्धांतों की खोज की और सब जीवों को सुखी बनाने के लिए ही उनकी प्ररूपणा की।

ऊपर लिखे दृष्टिकोण से ही इस पुस्तक में आत्मविज्ञान, कर्मविज्ञान, तत्त्व, अहिंसा और अहिंसा की साधना पर विवेचन किया गया है। इसी प्रकार जैन दर्शन की अन्य बातों पर—योग, ध्यान, समाधि, गुणस्थान आदि पर विवेचन हो सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में विवेचन बहुत संक्षेप में किया गया है। लिखने का उद्देश्य विद्वानों का ध्यान इस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित करने का है जिससे वे विद्वानों के लिए नहीं किन्तु जन-साधारण के लिए ऐसा साहित्य निर्माण करें जो उनके सरलता से समझ में आयें और उनके जीवन को प्रभावित करे। भारत में बड़े-बड़े विश्व-विख्यात विद्वान्, विचारक और दर्शनशास्त्री हैं जिन्होंने साहित्य-सर्जन भी किया है, पर वह विदेशी भाषा में है। यदि देशी भाषाओं में भी है तो केवल विद्वानों के ही उपयोग का है। इसलिए जनसाधारण का आधार तो केवल परम्परागत अंध-विश्वास ही रह गया है जो आज के बुद्धिवाद के युग में चल नहीं सकता। इस प्रकार जनता पर सुप्रभाव उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु नहीं रही, जिसका कुपरिणाम आज चारों ओर प्रकट हो रहा है।

उच्च स्तर के विद्यालयों में वे ही छात्र लिये जाते हैं जो नीचे की श्रेणी की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर अपनी योग्यता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुके हैं। यदि इस बंधन के बिना ही डाक्टरी के विद्यालयों में छात्र भरती कर लिये जायं, और वहां से भी परीक्षाद्वारा योग्यता प्रमाणित किये बिना ही उन्हें प्रमाणपत्र देकर अपना धंधा चलाने दिया जाय तो सिवाय इसके क्या परिणाम निकल सकते हैं कि वह डाक्टर रोग-निवारण करने के बदले लोगों को स्वर्ग की यात्रा पर रवाना करेगा। धार्मिक शिक्षा, उप-देश, अनुष्ठानादि भव-रोग मिटाने के साधन हैं। उसमें वास्तविक क्रमवार-श्रेणीवार योग्यता प्राप्त किये बिना ही प्रमाणपत्र देने के भी वैसे ही भयंकर परिणाम होना स्वाभाविक ही है और आज ऐसा हो भी रहा है। श्रमणों के शिथिल आचरण की शिकायतें तो हम बराबर देखते और सुनते

हैं, तो ऐसे कुवैद्यों से सच्चे मार्गदर्शन की आशा ही व्यर्थ है। वे तो धर्म को और कुरूप बनाकर महान् तीर्थंकरों की आशातना मात्र करते हैं। परिणामतः जैन श्रावकों में—गृहस्थों में भी वह गृहस्थयोग्य आत्मबल और चारित्रबल नहीं दिखाई देता जो धर्म के कारण होना चाहिए। इसीलिए कायरता अहिंसा बन गयी है, दीनता क्षमा बन गयी है और पुरुषार्थहीनता एवं अकर्मण्यता त्याग बन गयी है, अपने आश्रितों के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से भागना वैराग्य बन गया है और अनीति द्वारा कमाया हुआ धन कीर्ति, वह भी क्षणिक कीर्ति के लिए, यथाकथित धर्म के नाम पर अर्थशून्य आडम्बरों में खर्च करने को धर्म की प्रभावना और सद्गति का साधन माना जाने लगा है। इन कारणों से धर्म से न तो सुख मिला प्रमाणित होता है और न आचरण प्रभावित होता है तब नई पीढ़ी की धर्म पर श्रद्धा कैसे रह सकती है?

प्राचीन महान् जैनाचार्यों ने योग्यता और पात्रता पर बहुत भार दिया है। उन्होंने आत्मविकास का मार्ग भी पात्रता पर आधारित श्रेणी और क्रमवार बताया है। इस पुस्तक में 'अहिंसा-साधना' लेख में इसी पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। क्या यह आशा की जा सकती है कि हमारे विद्वान् इस ओर ध्यान दें और जो भी धार्मिक व्रत, नियम, क्रियाएं आदि की जाती है उनकी योजना पात्रता के अनुसार करें जिससे यह सब जड़रूप न रहकर भावपूर्ण हो और जीवन को प्रभावित कर धर्म को इसी भव में सुखदायक प्रमाणित कर सके। हमारी धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें भी इसी दृष्टि को सामने रखकर बनाई जायें तो उनके द्वारा भी धर्म प्रथा मात्र न रहकर वास्तविक हितकारी वस्तु बनेगा। तभी धर्म जगत् का कल्याणकारी बन सकता है और यही धर्म का वास्तविक रूप है।

१५, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता-१

गोपीचन्द धाड़ीवाल

विषय-सूची

●

जीवन-दर्शन

●

: १ :

आत्मविज्ञान

जीवित मनुष्य और मृतक-देह में क्या अंतर है, यह तो सब जानते हैं। मृत्यु होने पर देह के आकार-प्रकार में तो कोई फर्क नहीं आता पर उसमें चेतना नहीं रहती अर्थात् चेतना का जो कारण है वह वस्तु उसमें से निकल जाती है। उस वस्तु में न रंग है और न रूप। उस वस्तु में उन गुणों में से कोई भी गुण नहीं है जिन गुणों का संबन्ध पुद्गल अर्थात् जड़ से रहता है। मृतक-देह में पुद्गल के सब गुण मौजूद रहते हैं।

पुद्गलसंबंधी ज्ञान प्राप्त करना पौद्गलिक विज्ञान अर्थात् भौतिक विज्ञान का कार्यक्षेत्र है। इस ज्ञान में बराबर वृद्धि होती रही है और होती रहेगी। मनुष्य का ज्ञान घड़ा बनाने की विद्या से बढ़ता हुआ आज चांद और नक्षत्रों पर विजय प्राप्त करने की ओर बढ़ रहा है और इस ज्ञान के क्षेत्र की सीमा नहीं है।

इसी प्रकार से आत्मासंबंधी ज्ञान प्राप्त करना आध्यात्मिक विज्ञान का क्षेत्र है और मनुष्य सदा इस क्षेत्र में भी ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता आया है यद्यपि आज इस ओर मनुष्य का ध्यान नहीं के बराबर रह गया है जो कि संसार के लिए दुर्भाग्य की ही बात है।

किसी भी क्षेत्र में उन्नति उस क्षेत्र के ज्ञान के बिना असंभव है जब कि आत्मा और पुद्गल का इतना निकट और गाढ संबन्ध है।

ऐसी दशा में इस क्षेत्र की अवहेलना करना ऐसा ही है जैसा एक पैर से मनुष्य का चलने की चेष्टा करना। ऐसी दशा में मनुष्य के लिए सिवाय गिरने के और कोई रास्ता नहीं। आत्मा के क्षेत्र की अवहेलना करने का भी ऐसा ही परिणाम हो रहा है। यह जो संसार में अशान्ति, युद्ध में एक-दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्तियाँ बनी हुई हैं, इस ज्ञान की अवहेलना के ही परिणाम हैं।

पुद्गल-विज्ञान की दृष्टि में पुद्गल कभी नष्ट नहीं होता, केवल रूप ही बदलता है। आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा अमर है, कभी नष्ट नहीं होती, केवल रूप अथवा पर्याय ही बदलता है।

पुद्गल-विज्ञान पुद्गल में अनंत शक्ति मानता है, एक अणु के स्फोटन में इतनी शक्ति का प्रदर्शन होता है कि वह समग्र भूमंडल को नष्ट कर सकता है। हाइड्रोजन बम, न्युक्लियर बम इत्यादि इसके प्रत्यक्ष नमूने हैं। आध्यात्मिक विज्ञान भी आत्मा में अनंत शक्ति मानता है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है और यह विश्वसनीय है।

पुद्गल में रूप, रस, गंध इत्यादि गुण हैं जिनका विचार और परीक्षण करना पौद्गलिक विज्ञान का क्षेत्र है। इसी प्रकार आत्मा के गुणों का विचार करना आध्यात्मिक विज्ञान का कार्यक्षेत्र है।

आत्मा के गुणों का हम यहाँ थोड़ा-सा विचार करते हैं। प्रत्येक जीवधारी सुख चाहता है और सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है। शरीर से आत्मा के निकल जाने के पश्चात् यह प्रश्न

ही नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है, सुख आत्मा का गुण है, उसकी वर्तमान स्थिति में वह पूर्ण नहीं है इसलिए वह चेष्टा करता है अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने की। इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का गुण है, इसीलिए तो मनुष्य सदा से नई-नई वैज्ञानिक तथा अन्य क्षेत्रों में शोध-खोज करके अपना ज्ञान बढ़ाता आया है। अमरत्व भी आत्मा का गुण है इसलिए सब जीवधारी मृत्यु से और अस्वस्थता से बचने की चेष्टा करते हैं और नीरोग रहने के नये-नये उपाय खोजते हैं। आत्मा का एक गुण स्वतंत्रता है इसीलिए तो कोई भी जीवधारी किसी तरह का बंधन पसंद नहीं करता। पक्षी पिंजरे से निकलना चाहता है, पशु बंधन तोड़ने की चेष्टा करता है और मनुष्य स्वतंत्रता के लिए--आर्थिक हो चाहे सामाजिक, चाहे राजनैतिक—कितने प्रकार के संघर्ष करता आया है। आत्मा का स्वभाव पूर्णता की ओर बढ़ना है, जैसे लकड़ी का स्वभाव है पानी की सतह पर उठ आना। प्राणी उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है पर स्वयं अपूर्ण होने के कारण भूलें करता है और अंधेरे में मार्ग टटोलता है। मार्ग-दर्शक मिलने पर वह मार्ग पर अग्रसर भी होता रहता है, नहीं तो गिरता-पड़ता मार्ग में भटकता रहता है।

सब प्राणियों में क्या, सब मनुष्यों में भी आत्मा के गुण समान मात्रा में नहीं मिलते। कोई अधिक सुखी, बुद्धिशाली, स्वस्थ, स्वतंत्र-विचारवाला, निर्भीक है तो कोई कम। प्रत्येक व्यक्ति में ये गुण भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलते हैं। इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। समग्र संसार प्रकृति के नियमों से नियंत्रित

है, कोई भी कार्य ऊट-पटांग नहीं होता। सूर्य-चन्द्र इत्यादि का उदय-अस्त होना, मौसम का बदलना, रेल का चलना, हवाई-जहाज का उड़ना, यह सब प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। बालक का जन्म, उसका बढ़ना, स्वास्थ्य इत्यादि सब प्रकृति के नियमों पर आधारित हैं। उसी प्रकार मनुष्य में गुणों का कम या अधिक होना भी प्राकृतिक नियमों पर ही आधारित हैं। शुद्ध सोने के भिन्न-भिन्न टुकड़ों की वैज्ञानिक परीक्षा करने से मालूम होगा कि उनमें समान गुण हैं पर अशुद्ध सोने के टुकड़ों के परीक्षण में पता लगेगा कि उनके गुणों में अन्तर है और उस अंतर का कारण कम या अधिक मात्रा में अशुद्धियों का होना है तथा उन अशुद्धियों को दूर करने से उनमें वही शुद्ध सोने के सब गुण प्रकट हो जावेंगे। इसी प्रकार मनुष्यों के गुणों में अंतर होने का कारण भी आत्मा की शुद्धि का अंतर है। यदि आत्माएं पूर्ण रूप से शुद्ध हो जावें तो उनके गुण पूर्ण रूप में प्रगट हो जावेंगे, तब उनमें अंतर होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह सकता।

अब देखना है कि आत्मा में अशुद्धि क्या है। शरीर में रोग विजातीय पदार्थ के आने से उत्पन्न होते हैं। आत्मा और शरीर दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं तो आत्मा के लिए शरीर अथवा पुद्-गल विजातीय पदार्थ ही हैं। जीवधारी मनुष्य जो आत्मा के साथ पुद्गल के सम्बन्ध से बना है, यह आत्मा के साथ एक विजातीय पदार्थ का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध छूटने से ही आत्मा शुद्ध होती है। इस सम्बन्ध के छूटने का अर्थ केवल देह छूटना अथवा मृत्यु होना ही नहीं है क्योंकि इसमें तो केवल

स्थूल पुद्गल से ही छुटकारा होता है लेकिन सूक्ष्म पुद्गल तो आत्मा के साथ चले जाते हैं। पूर्ण शुद्ध आत्मा से मतलब शुद्धात्मा अथवा परमात्मा है। यदि देह छूटने से ही पूर्णता प्राप्त होना मानें तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। त्यागी और भोगी में कोई अंतर ही नहीं रहेगा। अच्छे और बुरे मरते ही पूर्ण परमात्मा बन जावेंगे। इसलिए हमको मानना पड़ता है कि आत्मा जब देह को छोड़ता है, सूक्ष्म पुद्गल उसके साथ लगे रहते हैं। इसका विचार हम एक दूसरी दृष्टि से भी करेंगे।

यह मानी हुई बात है कि बालक पर अपने पूर्वजों—माता-पिता के संस्कारों का तथा जिस वातावरण में वह पाला-पोसा जाता है और बढ़ता है उसका प्रभाव पड़ता है। पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक ही माता-पिता के एक साथ पैदा हुए और एक ही वातावरण में समान रूप से पले हुए बच्चों में भी संस्कारों में, गुणों में, बुद्धि में, स्वास्थ्य में, व्यक्तित्व इत्यादि में बहुत अंतर होता है। इसका यही कारण हो सकता है कि माता-पिता के संस्कारों और घर के वातावरण के सिवाय भी कोई कारण है जिससे उनमें भेद है और इस कारण का सम्बन्ध उनके माता के उदर में आने से पहले की ही किसी बात से हो सकता है अर्थात् उनके पूर्व जन्म के संस्कार ही इस अंतर के कारण हैं और एक ही पूर्व जन्म नहीं किन्तु हम कह सकते हैं कि अनेक पूर्व जन्मों के संस्कारों का प्रभाव इस जन्म पर पड़ता है।

यह संस्कार भी यही प्रकट करता है कि आत्मा विजातीय पदार्थ से मुक्त कभी नहीं थी। वे कभी कम कभी अधिक मात्रा में

सदा उसके साथ लगे रहे हैं क्योंकि अगर एक बार भी वह शुद्ध रूप प्राप्त कर लेती तो पुनः अशुद्धि चिपटने का कारण ही नहीं होता।

इससे यही तथ्य निकलता है कि आत्मा अनंत काल से यात्रा कर रही है, उसके साथ विजातीय पदार्थ लगे हुए हैं और वे उससे लगते-छूटते जाते हैं और जब वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है वे अशुद्धियां उसके साथ लगी रहती हैं और उनके प्रभाव से ही सुख, बुद्धि इत्यादि गुण कम अथवा अधिक प्रकट होते रहते हैं। यद्यपि आत्मा सदा पूर्णतया शुद्ध होने की चेष्टा करती है तथापि सही मार्ग न जानने के कारण वह इसी प्रकार भटकती रहती है।

जैसे संसार में अन्य क्रियाएं प्राकृतिक नियमों से नियंत्रित हैं, आत्मा और उसके साथ विजातीय पदार्थ का अर्थात् अशुद्धियों का लगना और अलग होना भी नियमों से नियंत्रित होना चाहिए अर्थात् आत्मा के स्वास्थ्यसंबंधी नियम भी होने चाहिए और उन नियमों की शोध-खोज आध्यात्मिक विज्ञान का क्षेत्र है। जब इस बात पर हम विचार करते हैं तो पांच मुख्य प्रश्न पैदा होते हैं : १. अशुद्धि के पुद्गल क्यों आत्मा के प्रति आकर्षित होते हैं। २. वे आत्मा में क्यों चिपट जाते हैं। ३. उनका आना कैसे रोका जा सकता है। ४. उनसे कैसे छुटकारा मिलता है। ५. पुद्गल का पूर्णतः सम्बन्ध छूट जाने से आत्मा की क्या स्थिति हो जाती है। इस प्रकार जीव और पुद्गल अर्थात् अजीव के गुण अथवा स्वभाव और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया के उपर्युक्त पांच भेद

ऐसी बातें या तत्त्व हैं जिन पर आत्मा के स्वास्थ्य के नियम आधारित हैं। इनको समझने से हम जान सकते हैं कि आत्मा कैसे स्वस्थ और पूर्ण शुद्ध बन सकती है।

मनुष्य आत्मा और शरीर (पुद्गल) के सम्बन्ध से बना है तो मनुष्य तभी स्वस्थ कहा जा सकता है जब उसकी आत्मा और शरीर दोनों स्वस्थ हों। एक के स्वस्थ और दूसरे के अस्वस्थ होने पर मनुष्य स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। एक अन्य बात भी ध्यान में रखने की है और वह यह है कि इन दोनों में से किसी एक को स्वस्थ रखने के नियम दूसरे के स्वास्थ्य के लिए बाधक नहीं हो सकते किन्तु सहायक ही होंगे। यह बहुत ध्यानपूर्वक विचार ने की बात है क्योंकि इस विषय में बहुत-सी गलतफहमियाँ फैली हुई हैं। शरीर के स्वास्थ्य को लोग संसारी बात और आत्मा के स्वास्थ्य को धार्मिक बात समझते हैं और इन दोनों को परस्पर विरोधी समझते हैं और इस भूल के परिणाम बुरे ही हो रहे हैं। यहाँ हम इसका विस्तृत विचार नहीं करके केवल एक ही उदाहरण देंगे —नियन्त्रित जीवन का। यह सबको स्वीकार करना होगा कि नियमित जीवन केवल आत्मिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है। यही नहीं किन्तु जिसे हम सांसारिक सफलता कहते हैं उसका आधार भी नियमित जीवन ही है।

किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए उस ध्येय को अच्छी तरह समझना, उसका ज्ञान प्राप्त करना तो आवश्यक है ही, पर साथ में हम में अगर यह श्रद्धा नहीं होगी कि वह ध्येय प्राप्त करना

हमारा कर्त्तव्य है और जो उपाय हम उसको प्राप्त करने के समझते हैं वे ठीक हैं तब तक हम उसकी प्राप्ति के लिए उत्साहित ही नहीं हो सकते। यदि उस ध्येय का हमें अच्छी तरह ज्ञान है और उसकी प्राप्ति के लिए श्रद्धा और उत्साह भी है तो भी यदि हम क्रियाशील नहीं बनेंगे और अकर्मण्य बने रहेंगे तो हम उस ध्येय को कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए उस ध्येय का ज्ञान, उसके प्राप्त करने योग्य होने की श्रद्धा और उसे प्राप्त करने की चेष्टा होना नितांत आवश्यक है, किसी एक की भी कमी हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए घातक है। इसी प्रकार हमारे शारीरिक और आत्मिक स्वास्थ्य और उन्नति के लिए भी ये तीनों बातें बहुत आवश्यक हैं। हमें केवल यही जान लेना काफी नहीं है कि आत्मा क्या है और शरीर क्या है पर यह भी जानना आवश्यक है कि इन दोनों का क्या सम्बन्ध है, क्या पारस्परिक प्रतिक्रिया है और इस ज्ञान और उद्देश्य पूर्वक हमको अडिग विश्वास और श्रद्धा के साथ उसे प्राप्त करने के मार्ग पर भी अग्रसर होना चाहिए। तभी हम अपने ध्येय पर पहुँच सकते हैं। यह नियम जिस प्रकार हमारे शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक विकास पर लागू होता है उसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक ध्येय की प्राप्ति के लिए लागू होता है। यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वह श्रद्धा ऐसी बलवती होनी चाहिए जो हमें केवल उस इष्ट मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा ही न दे किन्तु हमको उस पर चलने को मजबूर करे। चाहे शारीरिक स्वास्थ्य का प्रश्न हो

चाहे आत्मिक स्वास्थ्य का, इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा ही हमारा कल्याण कर सकती है।

एक शराबी जानता है कि शराब पीना उसके लिए हर दृष्टि से घातक है, वह कई बार उसे छोड़ने की प्रतिज्ञा भी करता है पर छोड़ने में सफल नहीं होता। वह सफल तभी होगा जब उसे शराब पीना बुरा है और उसे छोड़ना चाहिए इसकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो जायगी जो उसे छोड़ने के लिए मजबूर करेगी।

श्रद्धा की दृढ़ता के चमत्कार हमें राजनैतिक क्षेत्र में कितने ही मिलते हैं। महात्मा गांधी के प्रभाव से देश की स्वतंत्रता के लिए कितने लोगों ने अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया और हंसते-हंसते लाठियों की मार, गोलियां और जेल की यातनाएं सहीं। यह सब श्रद्धा का ही चमत्कार है। कोई भी ध्येय बिना ऐसी दृढ़ श्रद्धा के प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार हमारा शारीरिक स्वास्थ्य हो चाहे आध्यात्मिक, उसकी उन्नति के लिए उसके ज्ञान के साथ दृढ़ श्रद्धा और क्रियाशीलता इन तीनों का संगम अति आवश्यक है।

यह हितकारी ज्ञान और श्रद्धा तथा क्रियाशीलता हममें स्वतः ही तो आ नहीं जाते। इसके विपरीत हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर का वातावरण ही हमें पतनोन्मुख ले जाने वाला है और चारों ओर प्रभाव भी ऐसे ही हैं जिनके कारण संसार में भय, अशान्ति, क्लेश और दुःख बढ़ रहे हैं, ये सब हमारी आत्मा के पतन के द्योतक हैं। ऐसी विपरीत दशा में यदि हमें ऊपर उठना है तो हमें उठने की प्रेरणा की आवश्यकता होगी और उस

प्रेरणा के लिए हमें आदर्श निश्चित करने पड़ेंगे और उनका सहारा लेना पड़ेगा। जिनसे हमें अपने उत्थान के लिए प्रेरणा मिले वे ही हमारे सबसे बड़े हितैषी और परम इष्ट कहे जा सकते हैं।

हम यहाँ आध्यात्मिक ध्येय अर्थात् आत्मा में से दूषणों को हटाना, विजातीय वस्तुओं को हटाना, की ही चर्चा करेंगे। हम जानते हैं कि संसार में जुदे-जुदे व्यक्तियों में जुदी-जुदी मात्रा का आत्म-विकास अथवा आत्म-शुद्धता है तो हम ऐसे पुरुष की भी कल्पना कर सकते हैं जिसकी आत्मा पूर्ण शुद्ध हो, उसमें कोई विजातीय पदार्थ न हो और उसके सब गुण पूर्णरूप से विकसित हों। इसे ही हम आदर्श मान सकते हैं और चाहे इस जन्म में हमारे लिए वह पूर्णता प्राप्त करना असंभव हो पर हम उसे आदर्श मानेंगे तो उसकी ओर बढ़ने की हमें प्रेरणा अवश्य मिलेगी जिससे हम अपनी आत्मा की कुछ न कुछ उन्नति तो अवश्य करेंगे। ऐसे आदर्श पुरुष से हमें प्रेरणा मिलेगी उससे भी अधिक उस व्यक्ति के जीवन से हमें प्रेरणा मिलेगी जो कभी हमारी ही तरह अपूर्ण था पर जो अपने ही पुरुषार्थ से पूर्णता तक बढ़ता रहा और अंत में पूर्ण हुआ। आज के वातावरण में हमें यह मान लेने में हिचकिचाहट होती है कि क्या कभी किसी ने इस प्रकार पूर्णता प्राप्त की। परन्तु आज के माप से प्राचीन काल का मूल्यांकन करना ठीक नहीं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे जीवन-काल में ही मूल्य कितने बदल गये हैं। क्या आज की स्थिति देखते हुए हम मान सकते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में लोग घरों के ताले ही नहीं लगाते थे जो कि एक ऐतिहासिक सत्य है। महात्मा गांधी के लिए एक विदेशी

महापुरुष ने कहा है कि आनेवाली पीढ़ियाँ यह मानने को भी तैयार नहीं होंगी कि गांधी जैसा कोई पुरुष वास्तव में इस पृथ्वी पर हुआ था। इसलिए हमें यह मानने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि इस संसार में ऐसे व्यक्ति भी हुए हैं जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध बनाया।

इस प्रकार हमें प्रेरणा देने वाला प्रथम परम-इष्ट वह महापुरुष है जिसने हमारे जैसा होते हुए भी पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को पूर्ण बनाया और दूसरा परम इष्ट वे सब आत्माएँ हैं जो पूर्ण हो चुकी हैं। ये दोनों परम-इष्ट हमारे सामने पूर्ण शुद्ध आत्मा के गुणों की याद दिलाते हैं।

भूतकाल में हुए महापुरुष आदर्शरूप में हमें प्रेरणा दे सकते हैं पर हमें सदा सजग रखने के लिए तो हमारे समकालीन व्यक्ति होने चाहिए जो हमको ज्ञान-लाभ भी कराएँ, मार्ग-दर्शन भी कराएँ और प्रेरणा भी दें। वे पुरुष ऐसे हों होने चाहिए जिनका ध्येय केवल आत्मोत्कर्ष हो और जिन्होंने अन्य सब बातों से अपना संबंध विच्छेद कर लिया हो। उसी व्यक्ति के उपदेशों का प्रभाव पड़ सकता है जिसकी जीवनचर्या उन उपदेशों के अनुकूल हो और विपरीत न हो। एक शराबी यदि शराब छोड़ने का उपदेश देगा तो उसका क्या प्रभाव होगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति जो संसार में घर-परिवार में बंधा हुआ है, जिसका अधिकांश समय ऐसे कार्यों में व्यतीत होता है जिसका आत्मा के उत्थान से कोई संबंध न हो, उसका जनता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। प्रभाव ऐसे ही पुरुष का पड़ सकता है जिसके कोई भी स्वार्थ न हो और न जिसे

किसी के अधीन रहना पड़े या किसी अन्य की चिंता करनी पड़े। ऐसा व्यक्ति वही हो सकता है जिसके कारण किसी को भी किसी प्रकार का मानसिक या शारीरिक कष्ट न पहुँचे (पूर्ण अहिंसक), जो कभी भी किसी अन्य की वस्तु पर या अधिकार पर स्वामित्व जमाने का विचार न करे (पूर्ण अस्तेय-व्रतधारी), जो किसी दशा में असत्य न बोले, न दुःखदायी वचन बोले (पूर्ण सत्य-व्रतधारी), जो पूर्ण ब्रह्मचारी हो और जिसे किसी भी वस्तु पर लेशमात्र भी ममत्व-मूर्च्छा न हो (पूर्ण अपरिग्रहधारी)। जिसने अपने शरीर और इन्द्रियों पर ही नहीं किन्तु अपने वचन और मन पर भी पूरा अधिकार जमा लिया हो, जिससे वे उस पर अपना अधिकार न जमा सकें और जो क्रोध, मान, मायादि दुर्गुणों से मुक्त हो। ऐसे ही व्यक्ति का प्रभाव जनता पर पड़ सकता है और ऐसा ही व्यक्ति अपने वचन से और अपने आचरण से सच्चा मार्ग-दर्शन कर सकता है। ऐसा व्यक्ति पाना कठिन अवश्य है पर साधना द्वारा इस श्रेणी को पहुँचने वाला व्यक्ति मिलना असंभव नहीं। इस मार्ग पर चलने वाले साधकों को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं जिनका आधार उनकी साधना की प्रगति पर निर्भर हो। ऐसे साधकों की परम्परा चालू रखने के लिए ऐसा श्रेणीबद्ध कार्य-क्रम नितांत आवश्यक है। इस प्रकार हम इन तीनों श्रेणियों के साधकों को तीन परम-इष्ट मान सकते हैं। इस प्रकार हमें अध्यात्म-मार्ग में प्रेरणा देने और मार्ग-दर्शन कराने वाले पाँच परम-इष्ट हुए। इनको हम पंच परमेष्ठी भी कहते हैं। इनका सम्मान करने और इनके गुणों और इनकी साधना को समझने और उस प्रकार

बनने की चेष्टा करने से हमारे सामने प्रेरणा बनी रहेगी कि हम अपनी आत्मा के महत्त्व को भूल न जावें।

ऐसी उच्च प्रकार की त्याग-वृत्ति हर व्यक्ति के लिए संभव नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जो इतनी ऊँची साधना न कर सके उसके लिए अपनी आत्मा के विकास, उसकी उन्नति अर्थात् उसकी शुद्धता बढ़ाने के लिए कोई मार्ग ही नहीं है। मार्ग अवश्य है। हर श्रेणी के व्यक्ति के लिए जिस स्थिति में उसकी आत्मा है उससे उसे ऊँचा उठाने की साधना है। आवश्यकता यह है कि वह निज की स्थिति को समझे, वह क्या चाहता है यह समझे और उसे क्या करना चाहिए इस पर भी विचार करे।

•

: २ : अध्यात्मवाद

धर्म वह वस्तु है जो हमारे जीवन में मार्गदर्शक का काम दे। मार्गदर्शक का कार्य हमें अपने ध्येय पर पहुँचाने का है। हमारा ध्येय सिवाय सुख के और हो ही क्या सकता है और सुख याने हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक ही नहीं, किन्तु मृत्यु के पश्चात् भी जो हमारा कोई अस्तित्व हो, वहाँ भी हमें सुख प्राप्त हो, और ऐसा सुख जो शुद्ध अमिश्रित ही नहीं किन्तु शाश्वत भी हो। मार्गदर्शक का कार्य तो प्रत्येक क्षण मार्ग बतलाना होता है। इसलिए धर्म का सम्बन्ध हमारे पूरे जीवन से और उसके प्रत्येक क्षण में है न कि केवल अमुक समय या स्थान में ही। उसका सम्बन्ध तो हमारे जन्म-जन्मान्तर में है। जब हम कहते हैं कि धर्म इहलोक और परलोक अर्थात् दोनों लोकों में सुख देता है, इसका यही अर्थ हो सकता है कि वह प्रत्येक क्षण हमारी प्रत्येक क्रिया में हमें सावधान करता है कि हम ऐसी भूल न करें जो दुःख का कारण बने।

मनुष्य की प्रथम आवश्यकता उदर-पूर्ति है। उदरपूर्ति न होना दुःख है। इसलिए उदरपूर्ति के साधन जुटाने मनुष्य का स्वाभाविक और प्रथम कर्त्तव्य है। पर इन साधनों के जुटाने में मनुष्य कुछ भूलें करने के कारण दुःख को आमन्त्रित कर लेता है। धर्म उसको उन भूलों से बचने के लिए सावधान करता है जिससे

वह दुःखों से बच सके। धर्म उन साधनों में बाधक बनकर दुःख का कारण नहीं बनता है किन्तु उसको मार्ग बताता है कि वह साधन जुटाने में दुःख के कारण उत्पन्न न कर ले। उदरपूर्ति की तरह अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भी धर्म बाधक नहीं होता किन्तु वह चेतावनी देता है और मार्गदर्शक बनता है जिससे मनुष्य दुःख न उत्पन्न कर ले।

समय बदलता है. इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसके साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बदलती हैं, यह हम अपने अनुभव से जानते हैं। साथ में उन आवश्यकताओं को पूरा करने के उपाय भी बदलते हैं। मनुष्य यदि इस फेर-बदल के अनुसार अपने उपाय और साधन नहीं बदलेगा तो न वह अपने उदर की पूर्ति कर सकेगा और न अन्य आवश्यकताओं की। इसका परिणाम उसके लिए दुःखकर ही होगा। धर्म इस फेर-बदल में बाधक नहीं है, पर यहां भी वह उसे सावधान करेगा कि दुःख के बीज न बोवे।

उदरपूर्ति दिन-दिन कठिन होती जाती है, जीवन की दुष्करता बढ़ती जाती है और जीवन-साधन उपलब्ध करने में प्रतिद्वंद्विता और कठिनाई बढ़ती जाती है, यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है। जितना अतीत काल की ओर हम देखेंगे तो हमें पता लगेगा कि जीवन इतना जटिल नहीं था, जीवन में इतनी समस्याएँ नहीं थीं जितनी आज हैं। प्राचीन परम्परा की कथाएँ और कहानियां और आधुनिक शोध-खोज भी इसी बात की साक्षी देती हैं।

अब यदि हम आज से करोड़ों वर्ष पहले के मनुष्य के जीवन की कल्पना करें तो यह मान सकते हैं कि उसका जीवन बहुत सरल और सादा था। उसके सामने विकट समस्याएं नहीं थीं। ऐसी दशा में यह मान्यता बे-बुनियाद नहीं हो सकती कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ भी चेष्टा नहीं करनी पड़ती थी। कल्पवृक्षों द्वारा उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं। मनुष्य कार्य करने के लिए नहीं था किन्तु कल्पवृक्षों द्वारा दी गई सामग्री का भोग करने को था। संसार उस समय भोगभूमि था, न कि कर्मभूमि।

ऊपर हम वर्तमान से अतीत की ओर विचार ले गए हैं। अब हम अतीत से वर्तमान की ओर चलें। भोगभूमि-काल में और आज के यंत्रयुग में जो अन्तर है वह एकाएक होना संभव नहीं किन्तु शनैः-शनैः ही हुआ है, यह तो हम समझ सकते हैं। इसको हम काल का स्वभाव या प्रकृति का नियम कह सकते हैं। इस अतीत काल का इतिहास तो उपलब्ध नहीं हो सकता पर हम कल्पना कर सकते हैं कि कल्पवृक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल होने लगे होंगे तथा आवश्यकताएं और मनुष्य-संख्या बढ़ने लगी होगी तो मनुष्य को जीवित रहने के लिए साधन ढूंढ़ने पड़े होंगे। आज भी यही हो रहा है। मनुष्य-संख्या बढ़ रही है और नई-नई आवश्यकताएं उत्पन्न हो रही हैं तथा मनुष्य उन्हें पूरी करने की लगातार चेष्टा करता आ रहा है। इसका कारण यही है कि प्रकृति परिवर्तनशील है। संसार कल्पवृक्ष-युग अर्थात् भोग-भूमि-युग में से निकल कर कर्मभूमि-युग में आया और फिर, जैसा

कि इतिहासज्ञ कहते हैं, पाषाणयुग, लौहयुग में होता हुआ यंत्र-युग में आया और अब अणु-युग में प्रवेश कर रहा है।

पारम्परिक मान्यता के अनुसार जब कल्पवृक्ष यथेष्ट मात्रा में आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विफल होने लगे और मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी तो एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। आपस में छीना-झपटी और क्लेश होने लगा। प्रकृति में हर रोग की दवा है। मनुष्य विकासशील है। सदा मार्ग निकालता रहता है। मनुष्य ने समाज का निर्माण किया और समाज के नेता बने और वे कुलकर कहलाये। उन्होंने समाज के नियम और दंडनीति बनाई जिससे मनुष्य नियमित जीवन पालन करके सुख-शान्ति से रह सके।

पर समय अपने प्रवाह पर चलता रहा और कल्पवृक्ष बिल्कुल लोप होने लगे अर्थात् उदरपूर्ति के साधन ही लोप होने लगे। नई समस्या कुलकरों के बस की नहीं रही।

प्रकृति ने एक महान् वैज्ञानिक उत्पन्न किया जिसका नाम ऋषभ था। ऋषभ ने परिस्थिति को समझा, काल के स्वभाव को समझा, उसने देखा, काल इसी प्रकार नई-नई विकट समस्याएँ पैदा करता रहेगा। उसने दूर भविष्य को देखा। उसने देखा, मनुष्यों की संख्या और आवश्यकताएँ बढ़ती जायेंगी और मनुष्य केवल प्रकृति के भरोसे बैठा रहेगा तो अनर्थ होने लगेगा। आपस में छीना-झपटी, वैमनस्य, क्लेश होकर जीवन दुःखी और अशान्त हो जायगा। उसने देखा, संसार भोगभूमि नहीं रहकर कर्मभूमि-काल में प्रवेश कर चुका है। उसने देखा, मनुष्य को अपनी आवश्य-

कताओं की पूर्ति के लिए स्वयं को कर्म करना पड़ेगा, क्रियाशील, कर्मण्य और पुरुषार्थी बनना पड़ेगा और जो अकर्मण्य रहेगा वह नष्ट हो जायगा। उसे अपने आप आवश्यकता-पूर्ति के साधन जुटाने पड़ेंगे। उसने मनुष्य को पुरुषार्थ करना सिखाया। उसने मनुष्य को असि, मसि, कृमि अर्थात् कृषि और उद्योग सिखाये जिससे मनुष्य अपने ही परिश्रम से अपने आवश्यक साधन जुटाये। उसने मनुष्य को कला सिखलाई, सामाजिक जीवन का पाठ पढ़ाया, न्याय और नीति सिखाई और दोष करनेवालों के लिए दंड-विधान बनाया। मनुष्य उसकी इस पुरुषार्थ करने की शिक्षा पर चलकर ही आज जीवित है। वह बदलते काल के साथ बदलती आवश्यकताओं की पूर्ति नित्य नई शोध-खोज द्वारा करता रहा है और पाषाण-युग में होता हुआ यंत्र-युग में आकर अब अणु-युग में प्रवेश कर रहा है। वह इसी प्रकार आगे भी नई-नई आवश्यकताओं की नई-नई तरह से पूर्ति करता रहेगा। मनुष्य-समाज का कोई भी अंग इस मार्ग को छोड़कर पुरुषार्थहीन अथवा अकर्मण्य होकर बैठेगा तो उसका विनाश हो जायगा। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है।

उस महान् वैज्ञानिक ने इस काल की प्रगति में एक भय भी देखा। उसने मनुष्य की प्रकृति को समझा। उसमें उसने स्वार्थ, ईर्षा, लोभ, तृष्णा, राग-द्वेष इत्यादि प्रवृत्तियाँ देखीं जो समाज की सुख-शान्ति को और व्यक्ति की सुख-शान्ति को नष्ट करके संसार में दुःख का प्रचार करती हैं। उसने देखा कि ज्यों-ज्यों काल आगे बढ़ेगा, मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये-

नये साधनों का विकास करेगा और नये-नये उद्योग-धंधे स्थापित करेगा। इस विकास के साथ उसकी सामाजिक कुप्रवृत्तियाँ भी बढ़ेंगी और उसके परिणामस्वरूप संसार में अशान्ति बढ़ेगी, युद्ध होंगे और मनुष्य के दुःख बढ़ेंगे और उसके विनाश के कारण उत्पन्न होंगे। उसने जो सोचा वह संसार में प्रत्यक्ष नजर आ रहा है।

ऋषभ एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं था किन्तु वह एक महान् करुणामय आत्मा भी था। वह काल की इस भविष्यगति को देखकर उदासीन होकर न बैठा रहा। वह अकर्मण्य नहीं था, वह कायर नहीं था किन्तु महान् पुरुषार्थी और पराक्रमी था। उसने अपनी सारी शक्ति इस समस्या का हल ढूंढने में लगा दी। वह वर्षों तक इस विचार में मग्न रहा और इस मग्नता में, अपने सुख-दुःख और घर-कुटुम्ब की ही क्या, उसने निज शरीर तक की सुध-बुध छोड़ दी। इस कठोर तप के परिणामस्वरूप उसे प्रकाश मिला, शुद्ध पूर्णज्ञान—केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सुख का मार्ग दृष्टिगोचर हुआ।

उसने देखा कि मनुष्य क्या, प्रत्येक प्राणी केवल जड़ पदार्थ का पिण्ड ही नहीं है किन्तु उसमें जो चेतना है वह इस बात का प्रमाण है कि उसमें एक अन्य तत्त्व भी है। उसने देखा कि स्वभावतः वह तत्त्व पूर्ण ज्ञानमय है और पूर्ण सुख उसका स्वभाव है। वह जरा-मृत्यु आदि के दुःखों से भी मुक्त है। पर किन्हीं कारणों से वह शुद्ध अवस्था में नहीं है। उसमें अशुद्धियाँ लगी हुई हैं और इसी कारण से वह पूर्ण सुख और पूर्ण ज्ञान से वञ्चित है। उसने

उन अशुद्धियों के कारण जाने और उनसे मुक्त होने के उपाय जाने। उसने देखा कि पुरुषार्थ करने से मनुष्य उनसे मुक्त हो सकता है। उन अशुद्धियों से बचने का उपाय भी उसने देखा और यही सब बातें उसने संसार को बताईं।

उसने बताया कि यह सब मनुष्य के कार्यों की क्रियाओं की प्रतिक्रियाएं मात्र हैं। मनुष्य जब कोई ऐसा कार्य मन से या वचन से या शरीर से करता है जो किसी अन्य प्राणी के लिए अहितकर हो तो उसकी प्रतिक्रिया उसके लिए अहितकर ही हो सकती है। यह प्रतिक्रिया सहन करते समय यदि वह यह भूल जाय कि यह उसकी भूल का फल है और फिर उत्तेजित होकर वह दूसरे का अहित सोचे या करे तो एक दुःखों की शृंखला, क्रिया और प्रतिक्रिया की शृंखला उत्पन्न होकर संसार में दुःखों का वातावरण उत्पन्न करती है। इसे, किसी के भी अहित करने को, किसी के लिए दुःख का कारण बनने को अथवा किसी को किसी भी प्रकार से दुःखी करने को 'हिंसा' का नाम दिया गया। अर्थात् संसार में दुःखों का कारण उसने हिंसा को ही बतलाया चाहे वह मन द्वारा हो, चाहे वचन द्वारा, चाहे क्रिया अर्थात् कार्य द्वारा। और ऐसे कार्य न करना अर्थात् 'अहिंसा' का पालन करना ही दुःखों की शृंखला से बचने का उपाय है। उसने बताया कि हिंसा की प्रतिक्रिया इसी जन्म में ही समाप्त नहीं हो जाती है किन्तु वह आत्मा को भी कलुषित कर देती है जिसके कारण वह प्रतिक्रिया जन्म-जन्मान्तर तक होती चली जाती है और उससे बचने का केवल एक उपाय है—अहिंसा।

उसने मनुष्य को खेती, उद्योग-धन्धे इत्यादि के लिए पुरुषार्थ

करने को कहा था। उसने कर्मण्य बनने की शिक्षा दी थी। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसने उन कार्यों को पाप-मूलक कहकर निषेध नहीं किया क्योंकि वे तो जीवन के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु उसने तो यह शिक्षा दी कि प्रत्येक कार्य करते समय 'अहिंसा' तत्त्व सामने रखो। पर वह यह भी जानता था कि 'अहिंसा' पालन अकर्मण्यता नहीं है, कायरता नहीं है और आसान भी नहीं है। उसके लिए पराक्रम और आत्मबल, महान् आत्मबल की आवश्यकता है। उसने आत्म-बल प्राप्त करने का उपाय बताया 'संयम'—आत्म-संयम—स्व-अनुशासन आत्म-नियंत्रण। और यह संयम भी बातों से आने की वस्तु नहीं किन्तु साधना द्वारा प्राप्त करने की वस्तु है और इस साधना का नाम 'तप' है। इस प्रकार उसने दुःखों से बचने का उपाय और सुखप्राप्ति का उपाय अहिंसा, संयम और तप बताया। उसने कहा—मनुष्य अपने जीवन-यापन की कुछ भी प्रवृत्तियाँ करे, उन पर यदि वह इन तीन तत्त्वों द्वारा नियंत्रण रखेगा तो दुःखों से बचेगा और पूर्ण नियंत्रण रखने पर शाश्वत अमिश्रित सुख अर्थात् मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण अथवा परमात्म-पद प्राप्त करेगा।

इस प्रकार संसार के कल्याण के लिए ऋषभ ने दो धाराएँ प्रवाहित कीं। एक तो मनुष्य को अपनी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए पुरुषार्थ करने की जिसे हम भौतिक धारा कह सकते हैं और दूसरी, उस भौतिक धारा को अहितकारी रूप धारण करने से बचाने के लिए उस पर नियंत्रण रखनेवाली 'अहिंसा-संयम-तप' जिसे हम धर्म कह सकते हैं उसकी धारा या अध्यात्मवाद की धारा। पहली धारा का सम्बन्ध हमारे शरीर से है तथा दूसरी का हमारी

आत्मा से और शरीर व आत्मा का संघटन ही हमारा जीवन है। यह तो प्रकट ही है कि जब तक हमारे शरीर और आत्मा का सम्बंध है, हमारे लिए ये दोनों ही आवश्यक हैं। संसार का प्रथम मार्गदर्शक होने के कारण ऋषभ प्रथम तीर्थंकर कहलाया। यह भारत का ही सौभाग्य था जहाँ केवल एक ही नहीं किन्तु समय-समय पर जब भी भौतिकता पर धर्म का नियंत्रण शिथिल हुआ और संसार कुमार्ग पर जाने लगा, तीर्थंकरों का जन्म हुआ। इस प्रकार कुल २४ तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव हुआ और उनमें से अन्तिम—२४वें तीर्थंकर जो वर्धमान महावीर के नाम से लोक-विश्रुत हैं, आज से लगभग २५०० वर्ष पहले हुए। ये सब तीर्थंकर अहिंसा-संयम-तप के प्रचार द्वारा संसार को कल्याण का मार्ग दिखाते रहे। भारत में अन्य भी कई महान् आत्माएं हुई है और वे सभी अहिंसा को परमधर्म मानते आये हैं और किसी न किसी रूप में अहिंसा, संयम और तप को ही धर्म मानते रहे हैं पर जिस विशाल रूप में जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा-संयम-तप का विकास किया उस हद तक कोई भी नहीं पहुंच सके। महावीर के उपदेश तो आज भी ग्रंथरूप में प्राप्त हैं, उनकी परम्परा को मानने वाले और अनुकरण करने वाले त्यागी साधु और गृहस्थ श्रावक भी मौजूद हैं।

इन सबसे पता चलता है कि वर्धमान महावीर ने इन अहिंसा, संयम और तप को केवल दर्शनरूप में या सिद्धांतरूप में ही जनता के सामने नहीं रखा किन्तु उन पर आचरण करने को बहुत महत्त्व दिया। उनकी अहिंसा केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं थी पर उसमें प्रत्येक जीवधारी, प्रत्येक प्राणी जिनमें पशु-पक्षी ही का

समावेश नहीं होता है किन्तु पेड़-पौधे, जल, अग्नि, वायु तक भी आ जाते हैं। इन्हीं महावीर के अनुयायियों को भारत में निरामिष भोजन के प्रचार और जनता में दया, करुणा के विचारों के विस्तार का श्रेय है जो प्रायः संसार के किसी देश में नहीं मिलते। इसी 'अहिंसा' विचारधारा के बल पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश ब्रिटिश जैसी जबरदस्त शक्ति की अधीनता से मुक्त हुआ और तब भी उसके साथ सद्भावना कायम रख सका। आज संसार को विनाश से बचाने वाली शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति भी इसी अहिंसा पर आधारित है। इसी अहिंसा-संयम-तप के कारण भारत में त्यागियों का दर्जा शक्तिशाली राजाओं से भी ऊंचा रहा और भौतिकता वह श्रेय नहीं पा सकी जो अन्य देशों में उसे मिला। इसी भावना के कारण भारत अन्य देशों के शोषण के मार्ग पर—उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद के मार्ग पर नहीं चला, उस काल में भी जब कि भौतिक उन्नति में भी वह सारे संसार से आगे था किन्तु उसने संसार को शान्ति का ही सन्देश दिया।

संसार का दुर्भाग्य है कि यह धर्म का, अहिंसा-संयम-तप का नियंत्रण संसार के अन्य भागों में नहीं रहा जिसका परिणाम भी संसार के सामने है।

प्राचीन काल में यूनान, रोम, मिस्र इत्यादि कई देशों ने भौतिक उन्नति की, अपने साम्राज्य फैलाये, समृद्धि प्राप्त की और उसके भोगने में भोग-विलास में अन्धे हो गये। परिणामस्वरूप उनका पतन हुआ। महान् विजयी सिकन्दर को आज कौन पूछता है जब कि भारत के महान् त्यागियों से आज भी संसार प्रेरणा पाता है।

वर्तमान काल में पाश्चात्य देशों ने अहिंसा-संयम-तप से अनियंत्रित कितना भौतिक विकास किया, संसार की अन्य जातियों को नष्ट करने वाले उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद इत्यादि हिंसकवाद उत्पन्न हुए। उनकी प्रतिक्रियाएं समाजवाद, साम्यवाद आदि हिंसकवादों के रूप में हुई और हिंसक क्रान्तियां भी हुई और हो रही हैं जिनके फलस्वरूप मनुष्य के हृदय में से स्वाभाविक करुणा-मैत्री के भाव नष्ट हो रहे हैं और नये-नये वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा शक्तिशाली देश एक-दूसरे को नष्ट करने की धमकियां दे रहे हैं और संसार विनाश के भय से कांप रहा है। इधर शान्तिरक्षा के लिए औपचारिक अन्तर-राष्ट्रीय संस्थाएं—लीग ऑफ नेशन्स जो असफल हो चुकी और युनाइटेड नेशन्स जो उसी मार्ग पर जा रही है, इनसे आशा रखी जाती है। मनुष्य भूलता है, शान्ति इन कामचलाऊ उपायों से नहीं आ सकती। उसके लिए धर्म अर्थात् अहिंसा-संयम-तप—इन शाश्वत सत्यों को ही आधार बनाना चाहिए और मनुष्य को समाज के हृदय में यही बीज बोने चाहिए।

वैयक्तिक क्षेत्र में भी धर्म का अभाव मनुष्य के दुःख का कारण बन रहा है। भौतिक उन्नति में धन प्राप्त होता है पर धर्म के नियंत्रण के बिना धन दुःख का कारण बन जाता है। वह असीम लोभ और तृष्णा उत्पन्न कर मनुष्य के हृदय में से नैतिकता ही नहीं, मनुष्यता का ही लोप कर देता है। धन-प्राप्ति के लिए कोई भी कार्य या अकार्य त्याज्य नहीं है और उसके भोगने के लिए कोई भी कृत्य दुराचार नहीं है। दान, परोपकार, मैत्री, त्याग, सेवा जैसे भाव लोप होते जा रहे हैं और स्वार्थ. कपट, झूठ, चोरी, अप्रामा-

णिकता इत्यादि का प्रचार बढ़ता जाता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध जैसा विशेष घनिष्ठ और पवित्र सम्बन्ध अपना उच्च मूल्य खो रहा है। विचारकों और दार्शनिकों तक के विचार भी अपनी निरपेक्षता और स्वतन्त्रता खोने लगे हैं। जो बातें सदा और सब देशों में हेय मानी जाती थीं उन्हीं को आज जीवन का साधारण आचार मानने लगे हैं और आत्म-संयम जो कि इन बुराइयों से मनुष्य को बचाने का मुख्य साधन है, अप्राकृतिक और हानिकारक माना जाने लगा है। रोग संक्रामक होते हैं, स्वास्थ्य नहीं। बुरी आदत आसानी से लग सकती है पर छूट नहीं सकती। इसी प्रकार कुप्रवृत्तियाँ बहुत शीघ्र और आसानी से प्रचार पाती हैं और बहु संख्या में लोगों पर उनका प्रभाव हो जाता है तब वह साधारण और स्वाभाविक बात गिनी जाने लगती है। उनकी बुराई समझने का विवेक ही नष्ट हो जाता है और वे बुराइयाँ स्वाभाविक बातों की तरह मनुष्य-समाज में घर कर लेती हैं। किसी बुराई को समझने का विवेक नष्ट होने से उसका जहर तो नष्ट नहीं हो सकता और समाज उसके परिणामों से तो नहीं बच सकता। इसीलिए आज हम देखते हैं कि मनुष्य के जीवन में अशान्ति, चिन्ता, निराशा इत्यादि बढ़ते जाते हैं जिसमें मानसिक और शारीरिक रोग बढ़ते हैं और दूसरी ओर अपराध और आत्म-हत्याएं प्रति-वर्ष बढ़ती जा रही हैं। यह है धर्म के नियंत्रणशून्य भौतिकधारा का नतीजा। यदि भौतिक उन्नति के साथ सबके हित अर्थात् अहिंसा का आदर्श होता और कुप्रवृत्तियों से बचने के लिए आत्म-संयमपूर्ण आचरण होता और तप-साधना के द्वारा उस आचरण

की पुष्टि होती रहती तो संसार कितना सुखी होता।

संसार तभी सुखी हो सकता है जब वह अपना जीवन-दर्शन पक्की नींव अर्थात् शाश्वत सत्य-सिद्धान्तों पर बनाये, न कि सामयिक उपयोगिता पर। ये शाश्वत सिद्धांत अहिंसा-संयम-तप हैं। यही धर्म है। अध्यात्मवाद का निचोड़ यही है कि भौतिक-धारा पर धर्म की धारा का नियंत्रण रखा जाय।

●

: ३ : कर्मविज्ञान

संसार में विविध प्रकार के जीव (प्राणी) हैं। इनमें मनुष्यों को ही देखिए। पारस्परिक कितनी विभिन्नताएँ हैं। कहीं भी दो मनुष्यों की शकल-सूरत, डील-डौल, चाल-ढाल, स्वभाव-प्रकृति एक-सी नहीं मिलती। साथ ही ज्ञान, बुद्धि, विवेक, विचार, ज्ञान-पिपासा, परिश्रम की आदत भी प्रत्येक की भिन्न-भिन्न होती है। सफलता, विफलता, सुख-दुःख में सब अलग-अलग हैं। एक परिश्रम करके भी भूखा सोता है तो दूसरा बिना परिश्रम मौज करता है। एक ही बात की सब पर अलग-अलग प्रतिक्रिया होती है। कोई दीर्घजीवी तो कोई अल्पायु है। कहाँ तक सोचें, कोई भी दो मनुष्य प्रत्येक बात में भिन्न ही नजर आते हैं। एक ही माता-पिता के एक ही समय उत्पन्न दो बालक भी समान नहीं हैं। इस प्रकार सृष्टि में असंख्य भिन्नताएँ हैं। उन्हें समझने के लिए हम उनका वर्गीकरण करें तो कई बातों का पता लगा सकते हैं।

सुभीते की दृष्टि से हम उन विभिन्नताओं को दो वर्गों में बाँटेंगे जिससे समझने में आसानी होगी। हम जानते हैं कि प्राणी आत्मा और शरीर या यों कहें जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से बना है। तो हम एक वर्ग तो उन भिन्नताओं का करेंगे जिनका प्रमुख सम्बन्ध आत्मा के मूलगुणों से है अथवा जिनका सम्बन्ध आत्मा के गुणों का घात करने से है। आत्मा के गुण हैं : (१) अनन्त ज्ञान, (२)

अनन्त दर्शन, (३) अनन्त विवेक-शक्ति और (४) अनन्त वीर्य। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में वे भिन्नताएँ रखेंगे जिनका विशेष सम्बन्ध आत्मा के गुणों से नहीं किन्तु शरीर से है। इन विशेषताओं को फिर चार वर्गों में इस प्रकार बांटें : (१) शारीरिक बनावटसम्बन्धी, (२) शारीरिक सुख-दुःख में अन्तर, (३) आयु में अन्तर और (४) सामाजिक अवस्था तथा संस्कारों इत्यादि में अन्तर। इस प्रकार जीवों अर्थात् प्राणियों की विभिन्नताओं को हम आठ भेदों में या वर्गों में बांट सकते हैं।

सारी सृष्टि प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित है। प्रकृति का कोई काम अनियंत्रित नहीं है। तब यह कैसे हो सकता है कि यह भिन्नता किसी भी नियम के अधीन नहीं है। प्रत्येक कार्य का कारण होता है तो ये सब भिन्नताएं बिना कारण नहीं हो सकतीं और वे कारण हैं, जैसा हम पहले कह चुके हैं, आत्मा के साथ विजातीय पदार्थ, पुद्गल-परमाणुओं का सम्बन्ध। उन पुद्गल-परमाणुओं को हम कर्म-परमाणु कहेंगे। इन भिन्नताओं के कारण की खोज करने का काम विज्ञान का है। यह विज्ञान बहुत महत्त्व का है, चाहे अपनी भाग-दौड़ में, काम-धंधों में फंसे रहने से या मौज-शौक, भोग-विलास में लिप्त रहने से हम इस ओर ध्यान न दें। जैसे खरगोश अपने कानों को बन्द करने से शिकारी कुत्तों की आंखों से यानी उनके आक्रमण से बच नहीं सकता ठीक उसी तरह इस विज्ञान के प्रति हमारी उपेक्षा हमको उन प्राकृतिक नियमों के परिणामों से नहीं बचा सकती। हम अंधेरे कमरे में बन्द होकर सूर्य के अस्तित्व को नहीं मिटा सकते। इसके विपरीत यदि हम इस विज्ञान की जानकारी

रखें और उसके अनुकूल कार्य करें तो हम अपने आपको कई अवाञ्छनीय परिस्थितियों से बचा सकते हैं।

भिन्नताओं के कारण जो कर्म-परमाणु हैं उन्हें ऊपर लिखे दो वर्गों के अनुसार दो नाम दे सकते हैं। प्रथम वर्ग जिसका सम्बन्ध आत्मा के गुणों का घात करने से है उसको घाती कर्म कहेंगे और दूसरे वर्ग को अघाती कर्म। फिर प्रत्येक के चार-चार उपभेद हमने बताए उनको क्रमशः हम उन विशेष भिन्नताओं के अनुसार निम्न आठ नाम देंगे : (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय, (५) नामकर्म, (६) आयुकर्म, (७) वेदनीयकर्म और (८) गोत्रकर्म। इन आठ भेदों अथवा प्रकृतियों में उन सब कारणों का समावेश हो जाता है जिनके कारण हम सृष्टि में इतनी भिन्नताएँ देख रहे हैं।

अब प्रश्न होता है कि ये कर्मपुद्गल-परमाणु क्यों आत्मा के प्रति आकर्षित होकर उसमें लग जाते हैं या यों कहें कि उनका आकर्षण अर्थात् 'आस्रव' और आत्मा से बन्धन अर्थात् 'बंध' क्यों हो जाता है। हम यहाँ केवल मनुष्य-प्राणी की अपेक्षा से ही विचार करेंगे।

आस्रव

संसार में पूर्ण शुद्ध आत्मा नहीं है किन्तु सभी आत्माओं पर कर्म-परमाणु के आवरण लगे हुए हैं, चाहे कम मात्रा में हों, चाहे अधिक मात्रा में और वे ऊपर कही हुई सभी प्रकृतियों के होते हैं। यह वैज्ञानिक सत्य है कि पुद्गल में आकर्षण शक्ति है। धरती पर पानी की दो बूँदें बहुत निकट डालिये, उनका पारस्परिक आकर्षक

आप स्वयं ही देख सकेंगे। धरती का आकर्षण और नक्षत्रों का पारस्परिक आकर्षण सर्वमान्य है। चांद के आकर्षण से समुद्र में ज्वार आता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल अन्य परमाणुओं को आकर्षित करें यह स्वाभाविक ही है। मनुष्य क्रियाहीन निश्चल नहीं रह सकता। उसकी क्रिया से कर्म-पुद्गल की आकर्षण-शक्ति को उत्तेजना मिलती है और वह शक्ति क्रियात्मक होकर नये कर्म-पुद्गलों को आकर्षित कर लेती है।

मनुष्य की ये क्रियाएं तीन ही प्रकार से हो सकती हैं—मन द्वारा, वचन (वाणी) द्वारा और काया (शरीर) द्वारा। इन तीनों क्रियाओं का समावेश हम एक ही शब्द 'योग' में कर दें तो हम कह सकते हैं कि कर्म के आस्रव का कारण 'योग' है। वह मनयोग, वचनयोग और काययोग में से कोई भी या सभी हो सकते हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि आकर्षित होकर वे चिपक क्यों जाते हैं। इसका भी हम एक आधुनिक वैज्ञानिक उदाहरण से विचार करेंगे।

बंध

लोहे में अन्य पुद्गल की तरह आकर्षण-शक्ति है। यदि उसमें विद्युत्-प्रवाह चलाया जाय तो वह शक्ति बलवान हो कर चुम्बकीय शक्ति बन जाती है और उसके निकट जो भी लोहे का टुकड़ा आयेगा, उसको चिपका लेगा। विद्युत्-प्रवाह जितना बलवान होगा उसी के अनुपात से उसका चिपकना—बंधन बलवान होगा। इसी प्रकार हमारी क्रियाओं में अर्थात् योग में कोई विद्युत् जैसा

प्रवाह आजाय तो वह कर्मपुद्गल का आत्मा से 'बंध' कर देगा और जितना बलवान वह प्रवाह होगा उतना ही कठोर कर्म-बंधन होगा।

हमारी क्रियाओं में वह विद्युत्-प्रवाह क्या हो सकता है ? हमारे मन द्वारा की हुई क्रिया अर्थात् मनयोग के लिए वह विद्युत्-प्रवाह मन के भावों का, कलुषित भावों का, कुप्रवृत्तियों का ही हो सकता है। और ये भाव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि के सिवाय और हो ही क्या सकते हैं। हम इनको 'कषाय' कहेंगे। अर्थात् बंध का एक कारण कषाय है।

इसी प्रकार हमारे वचनयोग और काययोग में प्रवाह हमारी क्रियाओं से ही हो सकता है। वे यदि किसी अन्य प्राणी के लिए किसी भी प्रकार अहितकारी होंगी तो उनका प्रवाह विद्युत् की भाँति पकड़ने और बांधने की शक्ति उत्पन्न करेगा, ऐसी अहितकारी क्रियाओं को हम 'हिंसा' नाम देते हैं और विशेष समझने के लिए उसके पांच भेद करते हैं : (१) जीवहिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) अब्रह्म अर्थात् चरित्र-हीनता और (५) परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा। संसार में सब कुप्रवृत्तियां, अहितकर कार्यों का समावेश इन पांच बातों में हो जाता है। यदि इनसे हम अपने आप को बचा लें, निवृत्त करलें अर्थात् ऐसे व्रत लेलें कि ऐसी क्रियाएं नहीं करेंगे तो कर्मों की आकर्षण-शक्ति को उत्तेजना नहीं मिलेगी। पर जब तक ऐसे व्रत नहीं लेंगे और अव्रती रहेंगे अर्थात् उन अनर्थकारी क्रियाओं से बचने की चेष्टा ही नहीं करेंगे तो निश्चय ही कर्म आस्रव होकर हमारी आत्मा में बंध जायेंगे अर्थात् बंध का तीसरा कारण 'अव्रत' या 'अविरति' हुआ।

मन-वचन-काया सदा क्रियाशील रहते हैं, अकर्मण्य नहीं हो सकते। अहितकर क्रियाओं से उनको बचाने के लिए केवल 'व्रत'ही काफी नहीं है, क्योंकि व्रत लेने से ही उनका पालन नहीं हो जाता है और अहितकर क्रियाएँ नहीं रुक जाती हैं। इसके लिए सदा जाग्रत और सावधान रहना होता है। क्रियाओं को करते समय उपयोग रखना नितान्त आवश्यक है। एक चौड़े नाले को हमें पार करना है। उस पर एक कम चौड़ा तख्ता रखा हुआ है उस पर चल कर हमें उस नाले को पार करना है। ऐसी दशा में हम उस पर बड़ी सावधानी और उपयोग से पैर रख कर चलेंगे, जरा भी असावधानी हुई कि हम नाले में गिरे। इसी प्रकार हमारे जीवन-रूपी नाले को व्रतरूपी कम चौड़े तख्ते द्वारा पार करना है। इसमें हम थोड़े भी असावधान हुए, उपयोग में चूके, उद्देश्य हमारी दृष्टि से ओझल हुआ कि हमारा पतन हुआ, कर्मों का बंध हुआ। यदि उपयोगपूर्वक हम कोई भी क्रिया करेंगे तो बंध से बच जावेंगे। इस उपयोग के अभाव को हम 'प्रमाद' कहेंगे। अर्थात् बंध का चौथा कारण 'प्रमाद' हुआ।

अब प्रश्न यह होता है कि हमारे भाव और हमारी क्रियाएँ दूषित क्यों होती हैं, हमसे असावधानी—प्रमाद क्यों हो जाता है? इसके क्या कारण हैं? यह प्रश्न बहुत महत्व का है। यह तभी संभव है जब हम यह न जानें कि क्या करने योग्य है, क्या निर्दोष है और क्या दूषित है। जब तक हममें यह ज्ञान न होगा, यह विवेक न होगा कि हम उचित और अनुचित को, हितकर और अहितकर को, दोषरहित और दोषसहित को

पहचानें, हम दूषित कार्यों से नहीं बच सकते। इसी प्रकार यदि हमें कोई सलाह दे, सम्मति दे, बताये या उपदेश दे कि यह उचित है और यह अनुचित है तो जब तक उपदेश की योग्यता पहचानने की हम में शक्ति नहीं होगी, हम उचित और अनुचित में सच्चा भेद नहीं कर सकेंगे और दोषपूर्ण क्रिया से नहीं बच सकेंगे। ऐसी दशा में हम न कषाय से बच सकते हैं, न हिंसा और अव्रत से तथा प्रमाद से, परिणामतः कर्म का बंध होता रहेगा। इस विवेकशून्य स्थिति को 'मिथ्यात्व' कहेंगे। इस प्रकार बंध का पाँचवाँ कारण मिथ्यात्व हुआ।

इस प्रकार कर्मपुद्गल का हमारी आत्मा के साथ बंध होने के पाँच कारण हुए : (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। यह बंध हल्का याने आसानी से छूटने-वाला भी हो सकता है और कठिन याने कठिनाई से छूटनेवाला भी। वह धूल पर खींची हुई लकीर भी हो सकता है और पत्थर पर की लकीर भी। जिस प्रकार विद्युत् द्वारा उत्तेजित चुम्बकीय शक्ति विद्युत् की तीव्र और हल्की गति पर आधारित है, उसी प्रकार इस कर्मबंध का हल्कापन और गाढ़ापन हमारे मनोभावों की मन्दता और तीव्रता पर आधारित है। एक क्रिया हम सावधानी से, उपयोग से करते हैं और एक साधारण अविचार से करते हैं, एक क्रोध के आवेश में और एक महाक्रोध के आवेश में। उसकी प्रति-क्रियास्वरूप कर्मबंध उसी तारतम्य से होगा। उपयोगपूर्वक क्रिया का बंध नहीं के बराबर है, याने पानी में खींची लकीर के समान होगा और दूसरे भावों के साथ की क्रियाओं का कठिन और

कठिनतम होगा यह तो स्वतः सिद्ध है।

हमारी क्रिया सब ही अशुभ हो यह आवश्यक नहीं है। शुभ क्रियाओं की प्रतिक्रिया स्वभावतः ही शुभ—सुखदायी होगी और अशुभ की अशुभ—दुःखदायी होगी। फलतः जो आस्रव होगा उसे हम शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव कहेंगे और उनके फल को क्रमशः पुण्य और पाप कहेंगे।

हमने यहां जो कर्म के आस्रव और बंध के परिणामों का विचार किया है वह आत्मा के प्रति प्रतिक्रिया की अपेक्षा से किया है। हमारे शरीरांत मे आत्मा का अन्त नहीं होता इसलिए वह प्रतिक्रिया भी शरीरांत के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती किन्तु जन्म-जन्मान्तर में भी होती रहती है। पर इस जीवन में हमारी आत्मा का और शरीर का गठबंधन है, इसलिए हमारे कृत्यों का प्रभाव केवल हमारी आत्मा पर ही नहीं किन्तु हमारे शरीरसम्बन्धी सब बातों पर भी पड़ता है और जो कृत्य आत्मा के लिए अहितकर या हितकर होगा वह हमारे शारीरिक सम्बन्धों अर्थात् इस सांसारिक जीवन में भी अहितकर अथवा हितकर होगा, चाहे हमारे अज्ञान के कारण अथवा विवेक-शक्ति की दुर्बलता के कारण हमें यह बात आसानी से समझ में न आवे और इसलिए हमारी धारणाएं इसके विपरीत ही बन जावें। पर यदि हम गहराई से विचार करेंगे तो हम इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि जो आत्मा के लिए अहितकर है वह हमारे वर्तमान सांसारिक जीवन के लिए भी अहितकर ही है।

जो हिंसा, कषाय आदि हमने आत्मा के लिए अहितकर बताये

हैं वे हमारे सांसारिक जीवन के लिए भी अहितकर हैं क्योंकि वे आत्मा के मूल स्वभाव के तो विपरीत हैं ही, मनुष्य के मूल स्वभाव के भी विपरीत हैं। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की आत्मा अधिक विकसित है अर्थात् अमुक सीमा से ऊपर विकसित होने पर ही आत्मा मनुष्य-योनि में जन्म ले सकती है अर्थात् आत्मा के मूल गुणों की उसमें यथेष्ट मात्रा है। यदि मनुष्य उन गुणों के विपरीत कार्य करता है तो उस हद तक उसका पतन ही है, उसमें मनुष्यत्व की जगह पशुत्व का अंश है इसीलिए साधारण बोल-चाल में भी ऐसे मनुष्य को पशुतुल्य ही कहा जाता है। यह सब—हिंसा, असत्य आदि तथा कषाय मनुष्य जिस विकसित स्थिति में है उसके लिए अप्राकृत है और इसका सीधा प्रमाण यही है कि वह इन कुकृत्यों का यदा-कदा तो पालन करता है पर पूर्णरूप से नहीं। मनुष्य यदा-कदा झूठ बोल सकता है पर यह उसके लिए असंभव है कि वह केवल असत्य, अमिश्रित असत्य ही बोले। यही बात अन्य दुष्कृत्यों पर भी लागू होती है। मनुष्य सदा सत्य बोल सकता है पर सदा झूठ नहीं बोल सकता। वह सदा क्षमाशील रह सकता है पर सदा क्रोधी नहीं रह सकता। इसके सिवाय एक और बात ध्यान देने योग्य है। कोई भी मनुष्य कितना ही दुष्ट क्यों न हो पर वह इन हिंसादि दुर्गुणों को बुरा ही कहेगा, आदर्श कदापि नहीं कहेगा और अपने मन में अपने दुर्गुणों को अपनी कमजोरी ही मानेगा और यदि दूसरों में वही कमजोरियाँ देखेगा तो उन्हें दुर्गुण ही मानेगा।

यदि हम थोड़ी देर विचार करें कि यदि संसार में केवल

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, मूर्च्छा और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष इत्यादि का ही साम्राज्य हो जाय तो संसार का अस्तित्व किस रूप में बचा रहेगा, हम उस परिणाम को सोच तक नहीं सकते।

इस समय देश में एक अमुक मात्रा में ये मौजूद हैं जिसका परिणाम हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं। चारों ओर अशान्ति का, दुःखों का साम्राज्य है। जो पाश्चात्य देश इन्हीं दुष्कृत्यों के सदा पोषक रहे और इन्हें ही अपनी उन्नति का और समृद्धि का कारण समझते रहे हैं वे ही आज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठे हैं जिसका विस्फोट कभी भी होकर सारे संसार का सर्वनाश कर सकता है। गरीबों और गरीब देशों का शोषण, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उनके प्रति विद्रोही साम्यवाद और हिंसाधारित समाजवाद—ये सब हिंसा, चोरी और परिग्रहरूप हैं। राजनीतिक चालें, गूढ़ बातें ये भी चोरी, असत्य व कषाय के रूप हैं। भोग-विलास के नये-नये साधन और उत्तेजना अब्रह्म के रूप हैं। इनके भयंकर परिणाम सर्वनाशी युद्ध और युद्धों की भूमिकाओं के रूप में सर्वविदित हैं। व्यक्तिगत जीवन में भी मुनाफाखोरी, कालाबाजार, अनीति और इस प्रकार आये हुए धन का विषयोत्तेजन में उपयोग, यह भी उन्हीं आस्रव-बंध के कारण हैं जो हमारे इस जीवन में भी भयंकर स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं। हम कालाबाजार करते हैं धन कमाने के लिए, पर जब सब ही यह मार्ग अपना लें, तो क्या हम उसकी प्रतिक्रिया से बच सकते हैं? कदापि नहीं और हमारे आधुनिक जीवन की विभिन्न

समस्याएं इन्हीं पापास्रवों का परिणाम है। अलबत्ता इनकी मादकता में हम अपनी विवेकबुद्धि खो चुके हैं और आत्म-संयम-हीन हो गये हैं।

इस प्रकार आस्रव और बंध के जो कारण हैं वे केवल पर-लोक में ही फल देने वाले नहीं हैं किन्तु इस लोक में भी विनाश-कारी प्रमाणित हो रहे हैं। क्या मनुष्य सावधान होगा?

संवर

एक छोटा सा गांव था। उसके बाहर एक तालाब था जिसका पानी गांववालों के पीने इत्यादि में काम आता था। मजे की बात यह थी कि यह पानी गांव के बाहर ऊंची भूमि से बहकर उस तालाब में आता था और जब वह भर जाता था, पानी ऊपर से बहकर निकल जाता था। दिनोंदिन गांव की बस्ती बढ़ने लगी और गांव की गन्दगी, कूड़ा-करकट उस तालाब के पास की ऊंची भूमि पर डाला जाने लगा। परिणामतः तालाब का पानी गन्दा हो गया और गांववालों का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। गांववालों को अपनी भूल जान पड़ी और तालाब के पानी को शुद्ध रखने के उपाय करने लगे। गंदे पानी के आने के रास्ते बन्द किये और तालाब में भरा गंदा पानी निकल कर तालाब खाली कर साफ किया और शुद्ध पानी आने के लिए रास्ते साफ किये।

हमें अपने जीवनरूपी तालाब को भी यदि साफ करना है और आत्मा को शुद्ध-स्वस्थ बनाना है तो हमें भी गन्दगी लानेवाले नालों को—आस्रव और बंध को—रोकने का प्रयास अर्थात् संवर करना

पड़ेगा और पहले से जमी हुई गंदगी को उछाल कर—निर्जरा द्वारा निकाल कर तालाब याने अपने जीवन को शुद्ध करना होगा। और जिस हद तक हम इसमें सफल हो सकेंगे उस हद तक हमारी आत्मा शुद्ध-शुद्धतर होती हुई कर्मों से पूर्ण मुक्त होकर अनन्त, अबाधित, शाश्वत सुख यानी मोक्ष को प्राप्त करेगी। मार्ग विकट अवश्य है पर पराक्रमी, पुरुषार्थी के लिए कोई मार्ग विकट नहीं, कोई ध्येय अप्राप्य नहीं। यदि हम दृढ़ता के साथ, आत्म-विश्वास के साथ उस मार्ग पर चलते रहेंगे तो चाहे हमारी उन्नति भले ही क्रमशः क्यों न हो, पर यदि हम फिर अकर्मण्य, पुरुषार्थहीन न होकर जागरूक रहेंगे और चलते रहेंगे तो इस जन्म में नहीं, चाहे जितने पुनर्जन्म लेने पड़ें, ध्येय पर अवश्य पहुंचेंगे, क्योंकि इस देह के त्याग से ही हमारी आत्मा का नाश या अन्त नहीं हो जाता है, वह तो अमर है।

हम आस्रव और बंध के कारण जानते हैं। उनका निरोध करना ही संवर है अर्थात् आत्मा मे आनेवाली गन्दगी को रोकने का उपाय संवर है। यह निरोध किस प्रकार हो सकता है यही हमें अब विचार करना है।

आस्रव और बंध का एक कारण है योग। उसका निरोध गुप्ति द्वारा—मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायागुप्ति द्वारा—निग्रह द्वारा ही हो सकता है अर्थात् इन तीनों—मन-वचन-काया-शक्तियों का प्रशस्त निग्रह किया जाय अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन-वचन-काया को उन्मार्ग से रोका जाय और सन्मार्ग में लगाया जाय।

दूसरा कारण है प्रमाद। उसका निरोध पांच समितियों द्वारा किया जा सकता है अर्थात् (१) निर्दोष ईर्या—सावधानी से चलना, (२) सम्यग् भाषा—सत्य, हितकारी, परिमित और सन्देहरहित वचन बोलना, (३) सम्यग् एषणा—जीवन-यापन के लिए निर्दोष साधनों का ही उपयोग करना, (४) सम्यग् आदान-निक्षेप—वस्तु मात्र को भली-भाँति देखकर परिमार्जित कर रखना, उठाना और (५) सम्यग् उत्सर्ग—अनुपयोगी वस्तुओं को भी इस प्रकार डालना जिससे किसी जन्तु को क्लेश न हो। ये समितियां जीवन को साव-धानीयुक्त यापन करने की शिक्षा—आत्मानुशासन की शिक्षा देती हैं।

अन्य कारण अविरति और कषाय का निरोध धर्म द्वारा होता है और इसमें दस प्रकार के धर्मों का समावेश होता है : (१) क्षमा, (२) मार्दव अर्थात् सरलता, (३) आर्जव अर्थात् शुद्ध भाव, (४) शौच अर्थात् शुद्धता, निर्लोभता, आसक्ति से मुक्त रहना, (५) सत्य अर्थात् मित और यथार्थ वचन बोलना, (६) संयम—मन-वचन-काया द्वारा क्रियाओं में यतन और नियमन का अभ्यास करना, (७) तप—मलीन वृत्तियों को निर्मूल करने के लिए आत्म-नियंत्रण और आत्म-नियमन करना, (८) त्याग—पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना, (९) आकिंचन्य—किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना और (१०) ब्रह्मचर्य—त्रुटियों को हटाने के लिए तथा सद्गुणों के अभ्यास के लिए गुरु की सेवा करना और उसके नियंत्रण में रहना। इस प्रकार क्रोधादि कषायों और हिंसादि बुराइयों का निरोध इन्हीं दस धर्मों द्वारा होता है।

अब मिथ्यात्व के निरोध का विचार करें। मिथ्यात्व वास्तविकता का अज्ञान है। इसका निरोध तो वास्तविकता को समझने और उसका चिन्तन करने से—अनुप्रेक्षा या भावना से, उस चिन्तन के आधार पर जीवन की प्रतिकूलताओं का सामना करने से अर्थात् परीषहजय से तथा प्रतिकूलताओं का सामना करने के योग्य जीवन धारण करने से अर्थात् चारित्र से और योग्यता दृढ़ करने की साधना अर्थात् तप द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना, परीषहजय, चारित्र और तप भी संवर हुए।

अब हम संक्षेप में विचार करें कि वास्तविकता क्या है? इसके सच्चे ज्ञान को ही सम्यक्त्व कहते हैं। वास्तविकता यह है कि सब जीवधारी आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध से बने हैं। आत्मा अमर है। उसके मूल गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य (शक्ति) हैं पर संसार में आत्मा शुद्ध अवस्था में नहीं है किन्तु अशुद्धियों से, कर्मपुद्गलों से आवृत है। ये अशुद्धियाँ किसी अन्य की सहायता से नहीं किन्तु निजी पुरुषार्थ से हटायी जा सकती हैं। आत्मा के गुण उसी मात्रा में प्रकट होते हैं जिस मात्रा में वह अशुद्धियों से मुक्त है। हम सुख चाहते हैं तो उसका उपाय यही है कि हम अशुद्धियों को आने से रोकें और जो पहले से हैं उन्हें दूर करें। हम यह भी समझ लें कि पूर्वजन्म के तथा पैतृक संस्कार और युग के वातावरण के कारण हम में कुछ कुप्रवृत्तियाँ हैं जिनको छोड़ना आसान नहीं है। इन कुप्रवृत्तियों को दूर करने का ही नाम पुरुषार्थ है और स्वावलम्बन का भी महत्त्व इसी में है कि

परमुखापेक्षी, पराधीन नहीं बनना चाहिए। इस वास्तविकता के चिन्तन से आत्मा को उन्नत करने याने शुद्ध करने की, कमजोरियाँ मिटाने और आत्मबल प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। यह चिन्तन बारह भेदों में इस प्रकार किया जाता है :—

(१) अनित्य भावना अर्थात् किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो इसलिए सभी वस्तुओं से आसक्ति घटाना आवश्यक है और इसके लिए शरीर, घर-बार आदि वस्तुएं तथा उनके सभी सम्बन्ध नित्य, स्थिर नहीं हैं ऐसा चिन्तन करना।

(२) अशरण भावना अर्थात् एक मात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से ममत्व को हटाना जरूरी है। इसमें अन्य किसी का शरण नहीं मिल सकता।

(३) संसार भावना अर्थात् तृष्णा त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं से उदासीनता की साधना जरूरी है और इसलिए वस्तुओं से मन हटाने के लिए चिन्तन करना। राग-द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विषय-तृष्णा के कारण एक दूसरे को हड़प जाने की नीति से असह्य दुःखों का अनुभव करते हैं। वास्तव में यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का उपवन है, सचमुच ही कष्टमय है।

(४) एकत्व भावना याने मोक्ष की प्राप्ति के लिए रागद्वेष के प्रसंगों में निर्लेपता की साधना जरूरी है, इसलिए स्वजन के प्रति राग और परजन के प्रति द्वेषमुक्त होने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि मैं अकेला ही जन्मा हूं और अकेला ही मरूंगा, अपने ही बोये

हुए कर्मों के बीजों का फल भोगूंगा। मेरे दुःख का कर्ता या हर्ता दूसरा नहीं है।

(५) अन्यत्व भावना याने आत्मा और शरीर में भेद समझना, आत्मा का महत्त्व समझना। शरीर और पौद्गलिक वस्तुओं के मोह में आत्मा की हानि, उसका पतन न हो जाय इसका चिन्तन करना।

(६) अशुचि भावना अर्थात् तृष्णा का मुख्य कारण शरीर है। तृष्णा दुःख का, पतन का कारण है। इसलिए आत्मा के उत्थान के लिए शरीर से मूर्च्छा छोड़ना आवश्यक है। वह आत्मा की अशुद्धियों का कारण है इसलिए अशुचि वस्तु है।

(७) आस्रव भावना अर्थात् आस्रव के कारणों, इन्द्रियों के भोगों की आसक्ति घटाने के लिए उन कारणों से होनेवाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना।

(८) संवर भावना अर्थात् दुर्वृत्ति के द्वारों को बंद करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना।

(९) निर्जरा भावना याने कर्म के बन्धनों से मुक्त होने के उपायों का चिन्तन करना।

(१०) लोकानुप्रेक्षा याने विश्व के वास्तविक रूप पर चिन्तन करना जिससे सही मार्गदर्शन हो।

(११) बोधि-दुर्लभ भावना याने संसार के वातावरण का, कुसंस्कारों, मानसिक कमजोरियों का प्रभाव—प्रमाद इत्यादि आत्मा को सत्य मार्ग पर चलकर विकास करने, उन्नति करने, कमजोरियों से मुक्त होने में कितना बाधक है, यह कितना दुर्लभ है

इसका चिन्तन कर पुरुषार्थ एकत्रित करना।

(१२) धर्मस्वाख्यात भावना अर्थात् सब प्राणियों के हित का, सर्वोदय का चिन्तन करना जिससे उचित मार्ग से च्युत न हो। सर्वगुणसम्पन्न धर्म के सत्पुरुषों का मान करना। संसार का और निज का सौभाग्य समझना कि उनसे सन्मार्गदर्शन मिलता है।

जो व्यक्ति इन भावनाओं से प्रेरित होगा उसे मृत्यु का भी भय नहीं होगा क्योंकि वह आत्मा को अमर मानता है और इस जीवन को अन्तिम ध्येय के मार्ग की एक चौकी। वह कष्टों और दुःखों का स्वागत करेगा और समझेगा कि उनके द्वारा अपना ऋण चुका कर हल्का हो रहा है, अपने पूर्व के बांधे कर्मों का विपाक कर रहा है, उनका क्षय कर अपनी आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना रहा है। यही परीषहजय है। कष्टों को शान्ति से, अखेद और अदीन भाव से, अकायरता से सहना और अपनी आत्मा की शक्ति को बढ़ाना।

मन की दृढ़ता बढ़ाने और कायम रखने के लिए वह परीषहजय पर ही संतोष न कर कुछ क्रियात्मक भी बनेगा। वह अपनी जीवनचर्या को एक विशेष प्रकार में ढालेगा जिसमे यह गुण दृढ़ हो। इसे चारित्र कहते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होने के लिए कुछ साधना भी आवश्यक है। अपने मन पर, भावों पर और इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार जमाना आवश्यक है और इस उद्देश्य से जो साधना आवश्यक है उसे तप कहते हैं।

वासनाओं को क्षीण करने और आध्यात्मिक बल—आत्मबल प्राप्त करने के लिए, उसे दृढ़ करने के लिए शरीर, इन्द्रियों और

मन को जिन-जिन उपायों से नियंत्रित किया जाय, काबू में लाया जाय, तपाया जाय उन उपायों को तप या तपस्या कहते हैं।

तप दो प्रकार के होते हैं। एक तो शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रण में लाने के लिए। इसे बाह्य तप कहते हैं। दूसरा मन को अनुशासित करने के उपाय। इनको आभ्यंतर तप कहेंगे। यह तो प्रकट ही है कि इन दोनों में आभ्यन्तर तप का महत्त्व अधिक है और इसकी सहायता की दृष्टि से ही जो बाह्य तप किया जाता है वही सार्थक है, अन्य तो केवल काय-क्लेश ही है।

शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना उनके कार्यों पर नियंत्रण रखने से ही हो सकता है और इन कार्यों में सबसे प्रमुख कार्य है भोजन। इसलिए भोजन को इच्छा पर जिस तरह हो नियंत्रण करना ही बाह्य तप है। उदाहरण के लिए भूख से कम खाना, एक ही समय खाना, उपवास करना, अमुक दिन अमुक वस्तुओं का खाना, त्याग करना इत्यादि।

इसी प्रकार मन पर अनुशासन करने के उपायों पर विचार करें तो वे निम्नलिखित हो सकते हैं : (१) अनुचित कार्यों का प्रायश्चित्त और पुनः न करने का संकल्प, (२) सद्गुणों और सद्गुणियों का बहुमान जिससे सद्गुण उपार्जन की प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले अर्थात् विनय, (३) वैयावृत्य अर्थात् महान् आत्माओं की सेवा-शुश्रूषा, (४) सत्य, आत्मोन्नति करने वाले ज्ञान का अभ्यास अर्थात् स्वाध्याय, (५) ममत्व का त्याग करना अर्थात् व्युत्सर्ग और (६) चित्त में विक्षेपों का, उद्वेगों का त्याग करने के हेतु चिन्तन अर्थात् ध्यान। तप भी संवर है क्योंकि इससे मन-वचन-काया पर

नियंत्रण होकर बुराई के—आस्रव और बंध के मार्गों का निरोध होता है।

निर्जरा

हम संवर का, आत्मा में कर्ममैल आने और लगने को रोकने, तालाब में आने वाले गंदे नाले को रोकने के उपाय पर विचार कर चुके पर जो गंदगी पहले जम चुकी है, जो कर्म पहले बंध गये हैं उस गंदगी को निकाले बिना, उन कर्मों को छुड़ाये बिना, तालाब का जल शुद्ध नहीं हो सकता, आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती। उस गंदगी को निकाल फेंकने को, कर्मों को नष्ट करने को निर्जरा कहते हैं। तालाब का पानी कुछ तो बह कर निकल जाता है। बाकी को उछाल कर निकालना पड़ता है। इस प्रकार कुछ कर्म तो अपना फल देकर छूट जाते हैं, अलग हो जाते हैं, झड़ जाते हैं और कुछ को उछाल कर, प्रयास कर प्रयत्नों द्वारा हटाना पड़ता है। जो अपने आप फल देकर अलग हो जाते हैं वह अकाम निर्जरा है और जो प्रयास करने पर अलग होते हैं वह सकाम निर्जरा है। वह प्रयास अथवा चेष्टा जिससे सकाम निर्जरा हो, तप है जिसका विवेचन ऊपर कर चुके हैं।

इस प्रकार (१) गुप्ति, (२) समिति, (३) धर्म, (४) अनुप्रेक्षा, (५) परीषहजय, (६) चारित्र और (७) तप—ये संवर और निर्जरा के उपाय हैं, आत्मा को कर्मपुद्गलों से, अशुद्धियों से मुक्त करने के अथवा मोक्ष के उपाय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनका पूर्ण रूप से पालन बहुत दुष्कर है। या यों भी कह सकते हैं कि

अंशतः पालन भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए जब तक वह अमुक श्रेणी तक, आत्म-बल की अपेक्षा से न पहुंच जाय, असंभव है। धर्म संवर का तो कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक मनुष्य पालन कर सकता है और जिस मात्रा में वह उसका पालन करता है उसी मात्रा में उसका आत्मविकास, आत्म-शुद्धि, आत्मोन्नति होती रहती है। अन्य संवर—अनुप्रेक्षा आदि का तो वे ही पालन कर सकते हैं जिनका आत्म-विकास इतनी ऊंची श्रेणी पर पहुंच चुका है कि वे संसार के सब उत्तरदायित्व से मुक्त हो चुके हैं। बिना उच्च श्रेणी का विकास हुए भी कई व्यक्ति संसारी उत्तरदायित्व को छोड़कर त्यागी—साधु बन जाते हैं। इससे वे इन संवरों के पालन की योग्यता या पात्रता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वे तो कायरता, अकर्मण्यता के कारण अपने कर्तव्य से विमुख होकर उत्तरदायित्व से भागते हैं। यह संवर नहीं है, आत्मवञ्चना है। संवर महान् आत्म-बल मांगता है, कायरता-अकर्मण्यता नहीं।

संवर का पूर्ण रूप से पालन दुष्कर अवश्य है। पर कौन-सा महान् ध्येय ऐसा है जिसकी प्राप्ति दुष्कर न हो, जो आत्म-बल और पुरुषार्थ न मांगे। पूर्ण रूप से संवर का पालन करने से मनुष्य जीवनमुक्त, केवली, अरिहंत, तीर्थंकर हो जाता है और शरीर का अन्त होने पर सिद्ध, परमात्मा, ईश्वर, मुक्त बन जाता है याने मोक्ष पा जाता है। संवर का महत्त्व, विशेषतः 'दशधर्म' संवर का महत्त्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक देश में और युग में स्वीकार किया गया है। पर उसके पालन की चेष्टा अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सदा विशेष होती रही है और यहां की संस्कृति का

वह एक अंग बन गया है और इसी के कारण भारत के इतिहास में इतने उतार-चढ़ाव होते हुए भी वह जीवित है। उसका पालन करने वाले सदा पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं और भारत का सौभाग्य यह है कि ऐसी महान् आत्माओं का समय-समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है जिससे उस धर्ममयी संस्कृति को बल और जीवन मिलता रहा है।

वास्तविक रूप से पालन तो दूर रहा पर जिन व्यक्तियों पर इन गुणों का कुछ भी प्रभाव होता है उनमें स्वाभावतः ही कुछ विशेषताएं आ जाती हैं। उनके चित्त में सदा शान्ति और प्रफुल्लता रहती है, बुद्धि निर्मल, दृष्टि सन्तुलित, मन में दृढ़ता आत्मबल, करुणा, मैत्री, सेवा और परोपकार की भावना, निःस्वार्थता, नैतिकता आ जाती है। उनकी वाणी में और उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार का प्रभाव आ जाता है और चारों ओर सहयोग का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। जनता में स्वतः ही उनके प्रति श्रद्धा हो जाती है और मस्तक नम जाता है और उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता मिलती है।

अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप का प्रभाव-- ये मनुष्य को दुःखों का शान्ति से सामना करने की शक्ति देते हैं और मृत्यु का भी भय भगा देते हैं। आदर्शों के लिए, धर्म के लिए, देश की स्वतंत्रता या अन्य किसी भी ऊँचे नैतिक ध्येयों के लिए ऐसे मनुष्य अपना तन-मन-धन, जीवन और सर्वस्व भी हंसते-हंसते न्योछावर करने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं करते। जिस देश

में इन गुणों पर जीवित श्रद्धा हो वह देश न भौतिक दृष्टि से और न आध्यात्मिक दृष्टि से ही कभी च्युत हो सकता है।

यह मान्यता उचित है कि धर्म से ही अर्थ, धर्म से ही भोग और धर्म से ही मोक्ष मिलता है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि धर्म से ही आर्थिक, भौतिक उन्नति होती है धर्म से ही, सुख-भोग मिलता है और धर्म से ही अन्तिम ध्येय मोक्ष प्राप्त होता है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, धर्म से इस जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता मिलती है। संवर के पालन से, धर्म से केवल मोक्ष ही नहीं प्राप्त होता और अदृश्य परलोक में ही अर्थ और भोग की प्राप्ति नहीं होती अपितु इसी जीवन में इस दृश्य लोक में भी अर्थ और भोग मिलते हैं अर्थात् भौतिक उन्नति होती है। भौतिक उन्नति को आध्यात्मिक उन्नति का विरोधी मानना भूल है क्योंकि एक ही वस्तु से—धर्म से पारस्परिक विरोधी परिणाम नहीं उत्पन्न हो सकता। अनिष्ट तब होता है जब भौतिक उन्नति को मनुष्य अन्तिम ध्येय मान लेता है, केवल रास्ते की चौकी नहीं, और इस तरह गुमराह हो कर ध्येय और मार्ग दोनों को भूल कर आस्रव और बंध का मार्ग खोल देता है, धन के और भोग के लोभ में अनीति, दुराचार का शिकार बन जाता है और इस प्रकार एक ओर तो आत्मा की अशुद्धियां बढ़ाता है, कर्म का आस्रव और बंध कर परलोक बिगाड़ता है और दूसरी तरफ इस संसार में गंदा वातावरण उत्पन्न कर अपने चित्त में और संसार में अशान्ति, द्वेष, तृष्णा, ईर्षा, का प्रचार कर स्वयं दुःखी होता है और संसार में दुःख पैदा करने

का कारण स्वयं बनता है। धर्म का फल भोगते समय यदि वह सावधान रहे, अन्तिम ध्येय को दृष्टि से ओझल न होने दे, और आत्मानुशासन द्वारा आस्रव और बंध से बचता रहे तो उसकी भौतिक उन्नति, उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न होकर सहायक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए अहिंसा, संयम, तप को धर्म कहा है और धर्म को अर्थ, भोग और मोक्ष का साधक कहा गया है।

मोक्ष

संसार में जितने प्राणी हैं वे आत्मा और पुद्गल के मिश्रण हैं और मनुष्य जो भी सुख-दुःख भोगता है वह निज की क्रियाओं की प्रतिक्रिया है। शारीरिक अवस्था में आत्मा के मूल गुण कर्म-पुद्गलों से आवृत रहते हैं पर उनका आभास अवश्य होता है जोकि मनुष्य के जीवन से प्रकट होता है। जब सब कर्मपुद्गल छूट जाते हैं, उसका अर्थ यही हो सकता है कि आत्मा शुद्ध, आवरण-रहित, मूल, स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाती है और उसके स्वाभाविक गुण—पूर्ण ज्ञान, शक्ति, आनन्द इत्यादि जिनका शारीरिक और आवृत अवस्था में अपूर्ण प्रकाश ही दृष्टिगोचर होता था, वे पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। कर्म से पूर्णरूप से मुक्त हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं और जो उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है उसे सिद्ध, परमात्मा, परमेश्वर इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

शारीरिक अवस्था में जो भी अनुभव होता है, इन्द्रियों द्वारा ही होता है और इन्द्रियों की शक्तियाँ तो सीमित हैं। मोक्ष तो आत्मा से यानी विजातीय वस्तु अर्थात् शरीर—पुद्गल से पूर्णरूप से अलग

होने से ही प्राप्त होता है। मोक्ष के सुख आदि जो भी मूल गुण हैं वे इन्द्रियों के अधीन या उन पर आधारित नहीं हैं किन्तु स्वाधीन हैं। हमारा सुख-दुःख आदि का अनुभव तो इन्द्रियों पर आधारित है इसलिए हम मोक्ष को नहीं समझ सकते। हम तो एक प्रकार से उसकी कल्पना ही कर सकते हैं। हमारी शक्तियाँ सीमित हैं, हमारे सुख-दुःख मिले हुए हैं—उनका जोड़ा है। हम असीम शक्ति की कल्पना करें, दुःख के संग रहित सुख की कल्पना करें तो भी उसे नहीं समझ सकते। हम अपने आप में कई बातों की कमी अनुभव करते हैं, उस कमी को दूर करने की इच्छा रखते हैं, चेष्टा करते हैं और सफल होने पर भी यह विश्वास नहीं होता कि हममें फिर वह कमी न आ जाय, हम आशा और निराशा में झूलते हैं। यदि हम यह कल्पना करें कि हमारी सभी कमियाँ दूर हो जावें और उनका पुनः आने का हमें भय न रहे, हमारी कोई इच्छा अपूर्ण न रहे अर्थात् हम इच्छा रहित हो जावें, हमें इष्ट-वियोग न हो, अनिष्ट-संयोग न हो, रोग न हो, शोक न हो, मृत्यु न हो तो हमें कैसा आनन्द मिल सकता है, इसकी भी कल्पना आसान नहीं। हमारा सुख-दुःख पुद्गल से संबंधित है, उसके अधीन है तब हम उससे स्वतन्त्र सुख को कैसे समझ सकते हैं? बल्कि हमको तो ऐसी स्थिति ही अकल्पनीय, असम्भव लगेगी। एक जन्मांध को दृष्टि मिलने से जो सुख मिलता है वह हम नहीं समझ सकते, इसी प्रकार अपूर्ण आत्मा को जब पूर्णता मिल जाय तो उसके आनन्द को हम कैसे समझ सकते हैं?

हम एक अन्य प्रकार से विचार करें। संसार में पूर्ण

सुखी तो कोई नहीं, सब उच्च गुण और शक्ति धारक भी कोई नहीं पर सब मनुष्यों में ये सब भिन्न-भिन्न मात्राएं हैं और सब कोई उनकी मात्रा बढ़ाना चाहते हैं। गणित में जैसे असंख्य और अनन्त का विचार किया जाता है उसी प्रकार यह सुख की मात्रा बढ़ती-बढ़ती उस अनन्त तक पहुंचे इसकी तो हम कल्पना कर सकते हैं। यह कल्पना भी हमें उसे प्राप्त करने की प्रेरणा देगी और उस प्रेरणा से हम उस मार्ग पर चलेंगे जिनसे हमारे मूल गुणों की और सुख की मात्रा अवश्य बढ़ती जायगी और यह क्रम हमारे जन्म-जन्मान्तरों में चलता रहेगा।

प्राणी आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है और पुद्गल अजीव का एक भेद है। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात मूल तत्त्व हैं जो मनुष्य को जीवन में हम क्या हैं, क्यों हैं, क्या करें, कहां जाएं, कैसे जाएं, यह सब बतलाते हैं। ये केवल पारलौकिक यानी परलोक से ही संबंधित अदृश्य बात नहीं हैं बल्कि इनका संबंध तो हमारे वर्तमान जीवन से विशेष है। ये सुख का मार्ग बतलाते हैं केवल परलोक के लिए ही नहीं किन्तु इस लोक के लिए भी और वह भी केवल व्यक्तिगत क्षेत्र में ही नहीं किन्तु मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्रमें, यहां तक कि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी ये सुख-शान्ति के मार्ग का दर्शन कराते हैं। मनुष्य के लिए ये बहुत अधिक ही क्या, खास महत्त्व की बातें हैं इसीलिए ये सात तत्त्व कहलाते हैं। ये केवल मंत्ररूप में रटने के ही सिद्धान्त नहीं हैं पर जिस प्रकार जीवन में अनेक

विषय अच्छी तरह समझने के होते हैं जिनके बिना जीवन यापन करना ही असंभव होता है उसी तरह ये भी अच्छी तरह समझने के हैं। अपने जीवन के अनुभवों के साथ इनको मिलाकर इनकी परीक्षा करने से इन पर श्रद्धा उत्पन्न होगी और उसी श्रद्धा के बल पर इनके अनुसार जीवन यापन करना होगा। यह केवल दिन में अमुक समय के लिए या अमुक स्थान पर याद करने की वस्तु नहीं है पर यह विज्ञान है जिसको जीवन के प्रत्येक क्षण में काम में लाने की चेष्टा करनी चाहिए। यह जीवनतत्त्व है, जीवनसार है। कई कारणों से हमें ऐसा करने में सफलता न भी मिले तो भी दृढ़ विश्वास के साथ सदा चेष्टावान् रहना चाहिए।

उपसंहार

यह कर्मविज्ञान हमारी दृष्टि को विस्तृत करता है, उसे इसी जीवन तक ही सीमित न रखकर, और यह बतलाकर कि हमारा अन्त इसी जन्म के साथ नहीं हो जाता है, हमें सावधान करता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हमें उसका फल भोगना पड़ता है। यदि हम सन्मार्ग पर चलते हुए भी इस जन्म में सफल नहीं होते तो हमें निराश न होने को कहता है क्योंकि सत्कर्म का शुभ फल अवश्य मिलेगा और अभी जो बाधक है वह भी हमारे किसी बुरे कार्य की प्रतिक्रिया मात्र है। यह प्रतिक्रिया का नियम बतलाकर हमको सत्कर्म करने की प्रेरणा देता है। यह बल देता है कि दुःख आने पर हम उनसे घबराएं नहीं, भागें नहीं, पथभ्रष्ट न हों किन्तु शान्ति से मुकाबला करें और सत्कार्य

से उन पर विजय प्राप्त करें, उसका कारण किसी अन्य को समझ-कर अपनी शक्ति को नष्ट न करें। हमें सुख अनुभव हो तो बेभान होकर अपने आपको, अपने कर्तव्य को, भूल न जावें किन्तु यह सोचें कि इससे भी अधिक सुख हमारे पुरुषार्थाधीन है, न कि किसी अन्य के अधीन। यह शिक्षा देता है परमुखापेक्षी न बन कर स्वावलम्बी बनने की, और मनुष्य को उन गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है जो सर्वमान्य गुण समझे जाते हैं। यह संसार में ही सुखपूर्ण वातावरण पैदा करने की प्रेरणा देता है।

कर्म-विज्ञान मनुष्य का पथ-प्रदर्शक है, उसका जीवन-दर्शक है। भारत के प्रत्येक धर्म ने इसे अपने-अपने ढंग से बतलाया है और भारतीय संस्कृति इससे ओत-प्रोत है। संसार को युद्ध समाप्त करने के लिए युद्ध करने का उपदेश न देकर इसने विश्वशान्ति और सहअस्तित्व का पाठ दिया जिससे संसार आज परस्पर विनाश इच्छुक दो गुटों में न बंटा अपितु गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का जन्म हुआ जिसके कारण से ही आज संसार विनाश से बचा हुआ है। यह विश्वशान्ति और सहअस्तित्व का आधार वही अहिंसा है जो कर्म-विज्ञान की जड़ और जीवन-दर्शन का मुख्य सूत्र है।

यह सही है कि हमारे धार्मिक विचारों में कई विकार आ गए हैं और आचार में जड़ता आ गई है जिसके कारण हम आज की दुःखद स्थिति को पहुंचे हैं। आज हम आत्मा को भूल गए हैं और पुद्गल के पीछे अंधे हो गए हैं। धन को अनुचित महत्त्व देकर धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों को भूल गए हैं जिसके परिणामस्वरूप

हमारा आत्म-पतन हो रहा है जिसका दुःखद तमाशा हम चारों ओर देख रहे हैं। इसी से हम अपना आत्मबल भी खो चुके हैं। यदि हम उन विकारों को और जड़ता को निकाल कर धर्म के मर्म को समझ कर उसे जीवन में उतारें तो हम में वह आत्म-बल जाग्रत हो जायगा कि संसार की कोई शक्ति हम पर आंख उठाने तक का साहस नहीं करेगी। पर हम धर्म को विकारों और जड़ता से मुक्त कर समन्वय-दृष्टि अपनाने के बजाय धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर धर्म की ही, धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों की ही उपेक्षा कर रहे हैं। प्रकृति के राज्य में घूस नहीं चलती। धर्म के नियम प्रकृति के नियम हैं। उनके भंग करने के दंड से कोई नहीं बच सकता। अब भी हम नहीं चेतेंगे तो हमें देश के पतन के रूप में दंड भोगना पड़ेगा।

हम पाश्चात्य देशों के प्रभाव में उन शाश्वत सिद्धान्तों को भूल रहे हैं जिन्होंने हमें आज जीवित रखा है। विदेशी भविष्य-वाणी करते थे कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भारत नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। उनके द्वारा इसी उद्देश से योजनाएं बनाई गई। पर जैसी शान्ति, स्थिरता, राजनीतिक दैनिक उथल-पुथल से मुक्त आज भारत है वैसा कोई भी नव स्वतंत्रता प्राप्त देश संसार में नहीं है। सब जगह प्रायः उथल-पुथल और क्रान्तियां होती ही रहती हैं। इनसे भारत का बचे रहकर शान्ति भोगने का कारण वह भारतीय संस्कृति है जिसका आधार भारतीय धर्मों पर आधारित जीवन-दर्शन है। पाश्चात्य देशों का जीवन-दर्शन उन शाश्वत सत्यों पर आधारित नहीं है किन्तु मनुष्य के व्यक्तिगत

स्वार्थ पर आधारित है और व्यक्तियों के स्वार्थ परस्पर में टकराकर क्लेश और अशान्ति को जन्म देते हैं। उनकी दृष्टि सीमित है, इस जन्म के सुख के आगे वे सोच ही नहीं सकते। उनके लिए आत्मा कोई वस्तु ही नहीं, शरीर ही सब कुछ है। शरीर के सुख के आगे, चाहे वह दूसरों के दुःख का ही कारण क्यों न हो, वे कुछ सोच ही नहीं सकते। वे इस जीवन की समाप्ति यानी मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है जिसमें हमारे कार्यों की प्रतिक्रिया हो सकती है, यह सोच ही नहीं सकते और इसलिए बिना भय के दूसरों के लिए दुःखदायी बनते हैं। उनके सुख का आदर्श एक शराबी के सुख के समान है जो अन्त में दुःखदायी होता है पर उसे वह नहीं समझता।

इन्हीं कारणों से पाश्चात्य सभ्यता का उद्देश्य सदा धन और शक्ति एकत्रित करके उसे भोगते रहना रहा है, चाहे इसमें अन्यों का अहित ही क्यों न हो और इसका मुख्य उपाय कमजोरों का शोषण ही है और इसी आधार पर उनकी यथाकथित उन्नति आधारित है। पर वह उन्नति संसार के लिए कितनी घातक सिद्ध हो रही है, यह किसी से छिपा नहीं है जबकि भारतीय संस्कृति का आधार 'जीओ और जीने दो' है, करुणा और मैत्री है। इसके विपरीत पाश्चात्य सिद्धांत है 'सबल जीओ, निर्बल नष्ट हो'। भारतीय आधार सहयोग और सहअस्तित्व है, जबकि उनका आधार प्रतियोगिता अर्थात् सबल द्वारा निर्बल को नष्ट करना है। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया निर्बल को सबल बनकर प्रतिकार करना है। इस प्रकार सबल और निर्बल का संघर्ष ही उनका जीवन-दर्शन

बन गया है। इसी आधार पर साम्राज्य और उपनिवेश खड़े हुए, राष्ट्रों में प्रतिद्वंद्विता और फिर महायुद्ध हुए, निर्बल जनता के प्रतिरोधरूप समाजवाद और साम्यवाद का जन्म हुआ, दबे हुए देशों की प्रतिक्रियाएं क्रान्ति, स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में खड़ी हुई और संसार के बड़े भाग पर शासन करने वाले राज्य का साम्राज्य नष्ट हुआ। वे और भी नाश और पतन की ओर जा रहे हैं।

मनुष्य को अपनी बुद्धि का गर्व है, वैज्ञानिक उन्नति का गर्व है। उसे गर्व है कि उसने दुनिया को छोटी बना दी और देशों के बीच की दूरी कम कर दी पर इन बुद्धि के चमत्कारों के द्वारा उसने कौन-सा कल्याणकारी काम किया ? देशों में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष और एक दूसरे को नष्ट करने की स्पर्धा बढ़ाकर संसार को एक ज्वालामुखी पर बैठा कर वह गर्व करता है।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कुकर्म से एक तो कर्ता को आत्मा में कुसंस्कार का जन्म होता है, भविष्य में बदला देने वाले कर्म का बंध होकर उसकी आत्मा का पतन होता है और दूसरी प्रति-क्रिया उसकी संतान में कुसंस्कारों के रूप में होती है। वह कर्मबंध का आनेवाले जन्मों में फल भोगता है और उसका संतान पर प्रभाव भविष्य की पीढ़ियों को बरबाद करता है। सारी सृष्टि नियमों से नियंत्रित है और हमारी पृथ्वी उस सृष्टि का एक अंश मात्र है और वह भी स्वतंत्र नहीं किन्तु नियमों से सारी सृष्टि से संबद्ध है। इसलिए यह संभव नहीं कि इस धरती का एक

प्राणी प्रकृति के सब नियमों से मुक्त होकर मनमानी करे और उसको कहीं भी कोई प्रतिक्रिया न हो। मृत्यु के पश्चात् नये जन्म में हानेवाली प्रतिक्रिया तो हमारे लिए अदृष्ट है पर भविष्य की पीढ़ियों पर होनेवाली प्रतिक्रिया तो हम सामने देखते हैं और उसकी इतिहास भी साक्षी देते हैं। अन्य देशों के शोषण पर बने हुए साम्राज्य, भोगविलास का ध्येय रखने वाली जातियां, राष्ट्र और परिवार धूल में मिल रहे हैं और मिलते रहे हैं। संसार में कितने साम्राज्य, योद्धा, विजेता, शक्तिशाली व्यक्ति हुए पर उनका निशान ही नहीं रहा और वर्तमान में भी मिट रहा है पर ये यथाकथित उन्नति के शिखर पर विचरने वाले देश जब इतने स्वार्थान्ध हैं तो उनको अपनी भविष्य की पीढ़ियों की भी चिन्ता कैसे हो सकती है ?

आज यदि संसार में अमर हैं, नाम हैं, या पूज्य दृष्टि से याद किए जाते हैं तो केवल वे ही महान् आत्माएं जिन्होंने मनुष्य को सर्वप्राणी के कल्याण का मार्ग बताया। आज सिकंदर, नेपोलियन, रूसी जारों या कैसर और हिटलर को कौन पूछता है जितना संसार महावीर और बुद्ध, राम और कृष्ण और भारत में हुए अनेक महात्माओं को पूज्य दृष्टि से देखता है। क्योंकि उन्होंने जीओ और जीने दो अर्थात् अहिंसा, संयम, तप को जीवन-दर्शन बनाया और उन्हीं की वाणी पर आधारित संस्कृति हमें जीवित रखे हुए है।

पाश्चात्य देश संसार के विनाश की ओर की प्रगति को समझने लगे हैं पर उन्हें सत्य मार्ग नहीं सूझता, वे पारस्परिक

विनाश के भय से शान्ति लाने की चेष्टा करते हैं पर किन्हीं शाश्वत शान्तिदायी सिद्धांतों के आधार पर नहीं। यदि वे कर्म-विज्ञान को समझने लगें, उस पर आधारित भारतीय जीवन-दर्शन को अपना मार्ग-दर्शक स्वीकार करें तो यही बौद्धिक चमत्कार—विज्ञानादि संसार के लिए विनाशकारी न बनकर कल्याणकारी बन जाय।

●

: ४ :

अहिंसा

हमारा जीवन-ध्येय क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर है सुख। सुख आत्मा का गुण है, स्वभाव है इसीलिए सब प्राणी सुख चाहते हैं। पूर्ण विकसित शुद्ध आत्मा तो पूर्ण सुखी होनी चाहिए. वह सुख जिसमें लेश मात्र भी दु:ख न हो। आत्मा के लिए शरीर विजातीय पदार्थ है जिसका सम्बन्ध उसके पूर्ण सुख में बाधक है इसलिए हमको पूर्ण सुखी शरीरधारी कहीं भी नहीं मिलता। कम से कम मृत्यु चाहे स्वयं की हो चाहे किसी सम्बन्धी की हो, उस दु:ख से तो कोई भी मुक्त नहीं है।

आत्मा के पूर्ण सुख की तो हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं, उसका अनुभव नहीं कर सकते जब तक कि हमारी आत्मा अशुद्धियों अर्थात् विजातीय पदार्थों से मुक्त न हो। हम जो भी सुख अनुभव करते हैं वह अपनी इन्द्रियों और मन, जो कि हमारे शरीर के ही अंग हैं, के द्वारा ही अनुभव करते हैं। साथ में यह भी स्पष्ट है कि हमारी आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होते हुए हमारे सुखों की मात्रा हमारी आत्मा की शुद्धता के अनुसार ही होगी। पूर्ण शुद्ध न होते हुए भी उसमें लगे हुए दोषों की मात्रा कम या अधिक हो सकती है और उसी के अनुसार हमारे सुख-दु:खों की मात्रा में भी फर्क होना स्वतः सिद्ध है। इसलिए पूर्ण सुख अर्थात् आत्मा की पूर्ण शुद्धि इस जन्म में एक कल्पना मात्र और

अप्राप्य होते हुए भी, उसको हम ध्येय मानते हुए आत्मा को शुद्ध-शुद्धतर बनाये रहेंगे तो हमारे सुख की मात्रा बढ़ेगी इसमें तो संदेह की गुंजाइश ही नहीं। या हम यों कहें कि हमारे जीवन में हमारी आत्मा विकसित होती जाय, शुद्ध-शुद्धतर होती जाय तो हम सुख के सोपान पर चढ़ते हुए अधिकाधिक सुख प्राप्त करते जाएंगे और यदि हम कल्पना करें कि यह शुद्ध क्रिया बराबर बढ़ती रहे तो ऐसी दशा प्राप्त हो सकती है जब हमारी आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वाभाविक रूप प्राप्त कर ले तो उस दशा में हम पूर्ण सुखी अर्थात् सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाएंगे। वही मोक्ष, निर्वाण या परमात्मपद की प्राप्ति कहलाएगी। हमारी यात्रा वर्तमान देह छूटने पर ही समाप्त नहीं हो जाती इसलिए सोपान की चढ़ाई भी यहीं खत्म नहीं हो जाती। पर यदि उस चढ़ाई पर चढ़ते हुए किसी भी सोपान पर प्राप्त सुख से हम इतने प्रभावित हो जायं कि हमको इस बात का ध्यान ही न रहे कि आगे भी सोपान—सीढ़ियां हैं और उस स्थिति के सुखों को ही अन्तिम लक्ष्य समझ बैठें तो यह प्रकट ही है कि हम वहीं रुक जाएंगे और हमारी आत्मा का विकास या सुख की मात्रा आगे नहीं बढ़ेगी। अब सुख क्या वस्तु है. इस पर हम विचार करें। उस सुख का नहीं जिसकी हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं किन्तु उस सुख का जिसका हम अनुभव कर सकते हैं। वह सुख पूर्ण या अमिश्रित नहीं है इसलिए उसकी सीमा पर भी विचार करेंगे जिसके कारण हम उसे अपूर्ण या दुःखमिश्रित ही नहीं किन्तु दुःख का कारण बनते भी अनुभव करते हैं।

यदि देखा जाय तो मनुष्य के लिए मूल सुख तो स्वस्थ शरीर, आर्थिक प्रभाव और चिन्तामुक्त वातावरण ही है। यदि मनुष्य स्वस्थ हो, उसकी और कुटुम्बियों की उदर-पूर्ति और स्वास्थ्य की चिन्ता न करनी पड़े और किसी के साथ उसका वैर-विरोध न हो तो और उसे क्या चाहिए। पर उसके संस्कार या उसकी प्रकृति ही ऐसी बन गई है और परिस्थितियाँ भी ऐसी हो गई हैं कि इतने से सुख से उसे संतोष नहीं हो सकता और सुखों में भी प्रतिद्वंद्विता आ गई है और इस दौड़ में वह विवेक भी खो बैठता है जिसके कारण वह दुःखों का शिकार बन जाता है।

भोजन शरीर-पोषण के लिए न रहकर जिह्वा के स्वाद के लिए हो गया है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी शरीरसेवा के लिए ही न रहकर भिन्न-भिन्न भोग भोगने का साधन बन गई हैं और जब विवेक की मात्रा कम हो जाती है तो शरीर, इन्द्रियों और मन के सुख के साधन ही दुःख के कारण बन जाते हैं। एक ओर तो भोग्य पदार्थों की कमी असंतोष उत्पन्न कर उचित और अनुचित रीति से उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देकर अनीति का वातावरण उत्पन्न कर देती है और दूसरी ओर अधिक भोग से शरीर में विकार और रोग पैदा हो जाते हैं जो दुःख के ही कारण हैं। इसी प्रकार धन उदरपूर्ति का साधन मात्र न रहकर अधिकाधिक भोग्य वस्तुओं के संग्रह का साधन बन कर स्वयं संग्रह करने की वस्तु बन जाता है और इस प्रकार वह जीवन का चरम ध्येय बन जाता है और ज्यों-ज्यों संग्रह बढ़ता जाता है, उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। फिर धनिकों में प्रतियोगिता बढ़ने से उसकी प्राप्ति में न्याय और नीति का मूल्य

घटने लगता है। धन सत्ता का साधन बनकर इन मूल्यों को घटाकर अनीति में प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न करता है। मनुष्य इस प्रतिद्वंद्विता में इतना अन्धा हो जाता है कि वह नहीं सोच सकता कि इसकी दूसरों पर क्या प्रतिक्रिया होगी। उसको यह चिन्ता लगी रहती है कि उसका प्रतिद्वंद्वी उससे आगे बढ़कर अधिक धन और सत्ता प्राप्त कर उसे दबा न दे। एक तरफ समाज का बड़ा वर्ग गरीबी में डूबा जाता है और सत्त्वहीन कंगाल होकर मृत्यु के मार्ग पर बढ़ने लगता है। इस प्रकार समाज में एक ओर तो शोषक और शोषित वर्ग बन जाते हैं और दूसरी ओर शोषक वर्ग में पारस्परिक भय, ईर्ष्या, अविश्वास और वैर उत्पन्न हो जाता है। इसी नीति या अनीति से शोषक और शोषित में संघर्ष उत्पन्न होता है और समाज में और देश में राजनैतिक दल बनते हैं तथा सत्ता द्वारा शोषक और शोषित एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करते हैं और अन्त में जब शोषितों की संख्या बढ़ जाती है तब 'इनक़लाब' उठ खड़ा होता है और हिंसा का मार्ग अपना कर साम्यवाद खड़ा होकर और कानूनी मार्ग अपना कर समाजवादी दल शोषकों से डंडे या गोली के जोर से अथवा करों और कानून के जोर से शोषण का बदला लेते हैं। यही शोषणवृत्ति देश में मजदूरों और मालिकों में झगड़ा उत्पन्न करती है और यही शोषणवृत्ति अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों का धन और स्वतंत्रता लूट कर साम्राज्य कायम करके उस लूट को प्रोत्साहन देती है। उधर शोषित देश स्वतंत्रता के लिए संघर्ष-रत हो शोषकों के प्रति विद्रोह कर उन्हें हटाने की चेष्टा करते हैं और शोषक-शक्तियों में पारस्परिक भय उत्पन्न होकर महायुद्ध होते

हैं। योरपीय देशों का साम्राज्यवाद, रूस की क्रान्ति, साम्यवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद का संघर्ष, दो महायुद्ध, भारत का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, अफ्रीकी देशों का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, एटम बम इत्यादि विनाशकारी हथियारों का उत्पन्न होना, पाश्चात्य देशों और रूस में शीत युद्ध और महाभयंकर तीसरे महायुद्ध द्वारा संसारनाश का भय—यह उसी शोषक नीति का परिणाम है। धन की प्राप्ति सुख का साधन न होकर संसार का विनाश महादुःख का कारण बन गई है। इस प्रकार हमारी आत्मा का स्वाभाविक गुण और हमारे जीवन का स्वाभाविक ध्येय सुख की प्राप्ति है पर परिणामस्वरूप हमें दुःख ही मिलता है। इस समस्या का हल केवल आत्मविज्ञान ही बता सकता है क्योंकि सुख आत्मा का ही गुण या स्वभाव है उसी विज्ञान को हम धर्म कहते हैं।

आत्मविज्ञान के अनुसार सुख का साधन 'अहिंसा' है इसीलिए अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। यद्यपि इस सिद्धान्त को सारा जगत् स्वीकार करता है और जगत् के सब महान् पुरुषों ने इस सिद्धान्त को माना है फिर भी संसार में दुःख, भय और अशान्ति बढ़ती ही जाती है। इसका कारण यही है कि यह सिद्धान्त कार्यरूप में नहीं लाया जाता है।

प्रायः इसका कार्य-क्षेत्र मनुष्यसमाज के बाहर तो माना ही नहीं जाता और निर्दयता से पशु-पक्षियों का संहार किया जाता है। मनुष्यसमाज में भी वह कहीं तो केवल अपने-अपने देश या जाति तक ही सीमित है और कहीं-कहीं तो इससे भी छोटे क्षेत्र में। इस प्रकार शोषक और शोषित वर्ग उत्पन्न होते हैं।

किसी भी देश के कानून उस देश के प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होते हैं। यह सर्वमान्य नियम है। इस नियमभंग का परिणाम अराजकता होता है। इसी प्रकार आत्मविज्ञान के नियम भी सब आत्माओं पर लागू होते हैं। इस नियम को इस विशाल रूप में लागू नहीं करने या मानने के परिणामस्वरूप ही हमारे सुखों की कमी और दुःखों की वृद्धि है और संसार में अशान्ति तथा विनाश का भय छाया हुआ है। यदि हमारा आचरण सब प्राणियों के प्रति अहिंसापूर्ण होता तो हम में क्रूरता, निर्दयता, द्वेष, शोषण-नीति उत्पन्न नहीं होती जोकि हमारे दुःखों के बीज हैं। यह अहिंसा-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक बुद्धि पर आधारित सिद्धान्त है, न कि किसी पुरुष या किसी व्यक्तिविशेष की आज्ञा, फरमान या फतवा पर। महान् आत्माओं ने इसका समर्थन भी इसीलिए किया है कि उन्होंने अपनी बुद्धि और अनुभव से इसे सत्य समझा है। हमारी सीमित बुद्धि और अनुभव भी इसका समर्थन करते हैं।

सब आत्माओं का मूल गुण--स्वभाव समान है, चाहे वह मनुष्य के शरीर में हो या पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े या पेड़-पत्रों आदि के शरीर में। यह भी सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्य की प्रति-क्रिया अवश्य होती है। किसी भी प्राणी के प्रति हम जो भी अच्छी या बुरी क्रिया करेंगे, उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी। चाहे अपने अपूर्ण ज्ञान के कारण हम उसे अच्छी तरह समझ न सकें तो भी किसी हद तक तो हम उसे समझ सकते हैं और अनुभव भी करते हैं। वह प्रतिक्रिया हमारे मस्तिष्क पर, विचारों पर और संस्कारों पर होती है, इसे हम इन्कार नहीं कर सकते। एक ही

प्रकार की क्रिया बार-बार करते रहने से हमारी आदत हो जाती है और विवेक नष्ट होता जाता है और हम में क्रूरता आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं और हमारी आत्मा कलुषित हो जाती है। उसकी शुद्धता पर विजातीय पदार्थ के आवरण आ जाते हैं क्योंकि हमारी आत्मा अमर है, इस शरीर की मृत्यु पर ही उसका अन्त नहीं हो जाता। यह आवरण और संस्कार जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ जाते हैं और हमारे कार्यों की प्रतिक्रियारूप फल देते हैं।

अब हम ऐसा उदाहरण दें जिसमें हम इसी जीवन में प्रतिक्रिया का स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं। हमने किसी व्यक्ति की किसी प्रकार हानि की। उसे मालूम होते ही वह बदला लेने की चेष्टा करेगा और अपने मित्रों का सहयोग लेगा, इधर हम भी अपने बचाव के लिए अपने मित्रों का सहयोग लेंगे। झगड़े का क्षेत्र बढ़ता ही जाएगा और साथ में सभी लोगों के मस्तिष्क और संस्कारों पर भी प्रभाव पड़ेगा। यह क्रिया और प्रतिक्रिया हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में चालू है। हम अपने सुख के लिए सब दिन ऐसी क्रियाएं करते रहते हैं जो दूसरों के लिए हानिकारक हैं क्योंकि उनकी आत्मा भी उसी प्रकार सुख चाहती है जैसे हमारी। वे हमारे कार्यों का विरोध करते हैं और इस प्रकार एक ओर तो क्लेश और अशांति और दुःख उत्पन्न करते हैं और दूसरी ओर अपनी आत्मा के संस्कार बिगाड़ते हैं और उसके गुणों को दूषणों से आवरित करते हैं। आज इस संघर्ष का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है जिसका और जिसके परिणाम का जिक्र हम ऊपर कर

चुके हैं। यह हमारे अहिंसा-सिद्धान्त पर आचरण नहीं करने का परिणाम है।

सब विचार करें कि वे कौन से कार्य हैं जो ऐसे परिणाम उत्पन्न करते हैं। वे वही कार्य हैं जो आत्मा के गुणों के विरुद्ध हैं और इसलिए सबके लिए अहितकर हैं। सब प्राणियों की आत्माएं मूलतः समान हैं। इसलिए जो क्रिया हमारे लिये अहितकर है वह सब प्राणियों के लिए भी अहितकर होनी चाहिए। जो दूसरों का अपने प्रति व्यवहार हम बुरा समझे, दूसरों के प्रति हमारा वैसा ही व्यवहार उसको बुरा लगेगा और उसकी प्रतिक्रिया होगी और यह प्रतिक्रिया केवल हमारे कार्य करने से ही नहीं किन्तु हमारे मन और वचन द्वारा भी हो सकती है। इसलिए यदि कोई क्रिया हम स्वयं न कर दूसरों से करावें या उसके लिए दूसरों को अनु-मोदित या उत्साहित करें तो भी उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी क्रिया और उसकी प्रति-क्रिया का क्षेत्र कितना विस्तृत हो जाता है। इसलिए हमारे सुख का उपाय यही है कि मन से, वचन से या शरीर से स्वयं किसी के अहित का कारण न बनें, न दूसरे को बनायें और न ऐसे कार्यों के लिए किसी को प्रेरणा ही दें। ऐसे सब अहितकर कार्यों का समावेश एक शब्द 'हिंसा' में हो जाता है। इसको हम मोटे तौर से पांच प्रकार की कह सकते हैं : (१) किसी भी प्राणी की हिंसा, (२) झूठ या ऐसे वाक्य जिससे किसी को भी दुःख हो, (३) चोरी अर्थात् अनुचित लाभ, (४) दुश्चरित्र और (५) धनादि की तृष्णा। जिस हद तक हम हिंसा से बचेंगे उस हद तक

हमारा नैतिक पतन कम होगा, हमारे विरोधी और शत्रु कम होंगे, हमारे संस्कार कम बिगड़ेंगे और आत्मा कम कलुषित होगी। परिणामस्वरूप इस जीवन में और आनेवाले जीवन में दोनों में हमें दुःख कम होगा।

हमको यह भी समझ लेना चाहिए कि हिंसा का सम्बन्ध केवल मानवमात्र के साथ ही नहीं किन्तु प्रत्येक प्राणी के साथ है। यह सत्य है कि कई अवसरों पर या कार्यों में हिंसा अनिवार्य है। इसमें हम बेवश हैं पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विवेक के अभाव में या स्वार्थवश हम प्रत्येक कार्य को अनिवार्य न मानने लग जायं। यह तभी हो सकता है जब हम अपने विचारों पर और आचारों पर पूरी चौकसी रखें और जितनी बने उतनी कम हिंसा से ही अपना काम चलाने की चेष्टा करें। सबसे निकट बात अपने भोजन की ही लें। हम बिना मांसादि के जीवित और स्वस्थ रह सकते हैं फिर भी यदि हम मांसादि खायें तो वह हिंसा अनिवार्य नहीं कही जा सकती। वह तो महाघातक और क्रूरता पैदा करनेवाली हिंसा है। इस प्रकार हिंसा का छोड़ना ही सुख का साधन और दुःख से बचने का उपाय है। इसी को 'अहिंसा' कहते हैं। हम देख चुके हैं कि संसार के प्रत्येक क्षेत्र में सुख और शान्ति का आधार अहिंसा है—अहिंसा का केवल मंत्र नहीं किन्तु अहिंसा का प्रत्येक क्षेत्र में आचरण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि चारों ओर अहिंसा का ही वातावरण बना रहे। यह तभी सम्भव है जब हम अपने व्यक्तिगत जीवन की प्रत्येक क्रिया में अहिंसक बनें। हम मांसभक्षण के लिए

पशु-पक्षियों की हत्या द्वारा हिंसा और क्रूरता को तो प्रोत्साहन देते रहें और अहिंसा का मंत्र रटते रहें। यह तरीका लोगों की विचारधारा को अहिंसापूर्ण बनाने का नहीं है।

अहिंसा के पालन में हमको सहायता मिले, इसलिए उसके सहायक भावों को उत्तेजित करना चाहिए और हिंसा-उत्पादक भावों को नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिए।

सहायक भाव हैं : (१) मैत्री अर्थात् सब प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव, केवल मनुष्य ही के प्रति नहीं, (२) करुणा अर्थात् सब प्राणियों के प्रति करुणा एवं दया का भाव रखना, उनके दुःख दूर करने की चेष्टा करना, (३) प्रमोद अर्थात् दूसरों के गुणों का आदर करना और पर-निन्दा नहीं करना, (४) माध्यस्थ्य अर्थात् जिनमें गुण नहीं है और जो चेष्टा करने पर भी नहीं सुधरते या जो विपरीत वृत्ति वाले हैं उन पर भी क्रोध नहीं करना, उनके प्रति केवल समभाव और उपेक्षा का भाव ही रखना। इन भावनाओं से हमें अहिंसा-पालन में सहायता मिलती है।

इसके विपरीत (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ—इन चार भावों से, जिन्हें कषाय कहते हैं, हिंसा को उत्तेजना मिलती है। इन भावों से मुक्ति पाने के लिए हमें इनके विपरीत चार भावों को प्रोत्साहन देना चाहिए और ये चार हैं : (१) क्षमा-शक्ति, (२) मार्दव अर्थात् नम्रता, (३) सरलता और (४) संतोष। अब प्रश्न स्वाभाविक है कि अहिंसा तथा उसके सहायक गुणों को किस प्रकार प्राप्त करें? हमारे पूर्व भव के संस्कार—आत्मा में लगी अशुद्धियां और इस जन्म के संस्कार, हमारे चारों ओर का वाता-

वरण और परिस्थितियां और हमारे मनोबल की कमी बाधकरूप में खड़े रहते हैं। परन्तु बाधाओं पर विजय प्राप्त करना भी तो मनुष्य का कर्त्तव्य है। हमें इसकी चेष्टा करनी चाहिए।

संसार के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में सफलता के लिए नियंत्रण की आवश्यकता है। एक नियंत्रण तो बाहरी शक्ति द्वारा होता है—जैसे फौजों में, सरकारी क्षेत्रों में, उद्योगों और व्यापारी क्षेत्र इत्यादि में। दूसरा नियंत्रण स्व-आत्मा का, निजीपन का, जिसे हम आत्म-नियंत्रण कह सकते हैं। दोनों में आत्म-नियंत्रण ही उत्तम है। यह आत्मबल है। इसमें स्वाधीनता है, दूसरे में पराधीनता। यदि सब मनुष्यों में पूर्णरूपेण आत्म-नियंत्रण हो सके तो दूसरे नियंत्रण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यदि जनता में इतना आत्म-नियंत्रण हो कि कोई भी चोरी नहीं करे तो पुलिस के नियंत्रण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

हमारा उद्देश्य आत्मा को दोषों की अर्थात् दुःखों की परतन्त्रता से मुक्त करना है तो स्वाभाविक है कि हम आत्मनियंत्रण का ही सहारा लें। इसलिए हमको अहिंसा-पालन के लिए अपने मन, वाणी और कार्य पर आत्म-नियंत्रण द्वारा काबू लाना होगा और जिस हद तक हम इसमें सफल होंगे उस हद तक हम अहिंसा का पालन कर सकेंगे। इस आत्म-नियंत्रण को ही 'संयम' कहते हैं। संयम प्राप्त करने के लिए भी साधना की आवश्यकता है। बिना साधना, केवल बातों से ही संयम—आत्म-नियंत्रण नहीं आ सकता। यह आत्म-विजय है। कठिन साधना

मांगता है। उस साधना को ही तप या तपस्या कहते हैं। इस साधना—तप के दो भेद हैं अर्थात् मन के संयम के लिए दो मार्ग अपनाना होता है। एक तो मन को संयम की शिक्षा देना। इसके लिए (१) अपना संयम-ध्येय सदा सामने रखना, (२) ऐसे साहित्य का सदा पठन और मनन तथा स्वाध्याय करना जिससे मन में दृढ़ता आवे, (३) अपने नियंत्रण-विरुद्ध कार्यों पर पश्चात्ताप करना जिससे वैसे कार्यों से भविष्य में बचा जावे, (४) संयम-पालन में जो आदर्श व्यक्ति हैं उनका या भूतकाल में हुए हैं उनका तथा उनके साहित्य का तथा उनके बताये मार्ग का आदर करना और उनकी सेवा करना इत्यादि। ऐसा करने से संयम के लिए मन को उत्साह मिलता रहता है। इसको आभ्यंतर तप कहते हैं।

दूसरा भेद है—व्यवहार में अमुक-अमुक 'नियम' स्वीकार कर उनका पालन करना। ऐसा नियम अधिक लाभदायक तभी हो सकता है जब उसका सम्बन्ध हमारी दैनिक क्रिया के साथ हो जो हमें सबसे अधिक करनी पड़ती है जैसे भोजन। भोजन में हम उपवास द्वारा, रसलोलुपता-त्याग द्वारा, दिन में कितनी बार खाना इत्यादि या अन्य प्रकार के नियमों द्वारा आत्म-नियंयण का अभ्यास कर सकते हैं। इस प्रकार के नियंत्रण को बाह्य तप कहते हैं। इसका उद्देश्य आभ्यंतर तप का सहायक होना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के बिना यह तप व्यर्थ है।

यह ध्यान देने की बात है कि अहिंसा, संयम और तप हमारे

इस जीवन में भी केवल लाभकारी ही नहीं किन्तु सफलता की चाबी है। जिसको हम सांसारिक सफलता कहते हैं वह भी इन्हीं पर आधारित है। संयम हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करता है, हमारे व्यक्तित्व को निखारता है, हमारे प्रभाव को बढ़ाता है, हमारे चित्त को शान्ति देता है और अपने कुटुम्बियों, देश और संसार के प्रति अपना कर्त्तव्यपालन और उत्तरदायित्व निभाने में सहायक होता है। यह मानना बड़ी भूल है कि अहिंसा, संयम और तप केवल संन्यासियों, त्यागियों, वृद्धों या ऐसे लोगों के लिए हैं जो अपने उत्तरदायित्व से भागते हैं। पाश्चात्य देशों के अन्धानुकरण और मानसिक दासता के कारण हम इन शाश्वत सत्य सिद्धान्तों की अवहेलना करके भोगवाद और अनियंत्रित जीवन अंगीकार कर रहे हैं, जबकि उनके हिंसक और भोगवादी जीवन के कुपरिणाम विनाशकारी युद्ध के भय के रूप में हमारी आंखों के सामने हैं। भारतीय पारम्परिक संस्कृति का आधार अहिंसा, संयम और तप है और भारत के सब दर्शनों और धर्मों ने अपने-अपने ढंग से यही मार्ग बतलाया है। इसीलिए जबकि संसार की भोगवादी हिंसक संस्कृतियां नष्ट हो गई हैं और आज की पाश्चात्य संस्कृति भी विनाश की ओर जा रही है, भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों से जीवित चली आ रही है।

सारांश यह है कि व्यक्ति के इस लोक और परलोक का और संसार का इस काल में और भविष्य काल में सुख का आधार और साधन अहिंसा, संयम और तप है इसीलिए यह धर्म है।

आचार्य ने ठीक ही कहा है :—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

—दशवैकालिक १।१

अर्थात् धर्म सबसे उत्तम मंगल है। धर्म का अर्थ है अहिंसा, संयम और तप। जो धर्मात्मा है, जिसके मन में सदा धर्म रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

•

: ५ : अहिंसा-साधना

सुख का साधन धर्म है और धर्म का अर्थ अहिंसा है। जिस हद तक हम अहिंसा का पालन करेंगे उस हद तक हम सुख के अधिकारी होंगे और केवल इस जीवन में ही नहीं किन्तु जन्म-जन्मांतरों में भी अहिंसा हमारे सुख का कारण बनेगी। हमारा सुख हमारी आत्मा की शुद्धता पर निर्भर है यह तो हम अपने अनुभव से भी जानते हैं और इस शुद्धता का आधार अहिंसा ही है यह भी प्रकट ही है। हमारे चित्त में किसी के प्रति कुभाव नहीं होगा तो हमारे चित्त में शान्ति रहेगी और हमें सुख मिलेगा और यह कुभाव का न होना अहिंसा का ही अंग है इसलिए अहिंसा की साधना बड़े महत्त्व की बात है।

अहिंसा-पालन का अर्थ है हमारे कारण से अर्थात् हमारे किसी कार्य से किसी का अहित न हो। हम कोई भी कार्य करते समय किसी के प्रति बुरी भावना न रखें और जो भी कार्य करें, सावधानी से प्रमादरहित होकर करें, तो इतनी सावधानी रखने पर भी यदि किसी का अहित हो जाय तो उसका तो कोई उपाय ही नहीं। ऐसी दशा में हम हिंसा के दोषी नहीं हो सकते। यदि किसी के प्रति हमारे मन में बुरे भाव हैं या हम असावधानी से कोई क्रिया करते हैं तो इसमें सन्देह की गुंजाइश ही नहीं कि हम हिंसा के दोषी हो गए। इसलिए हिंसा की व्याख्या यही हुई कि राग-द्वेषादि कुभावों से या प्रमाद,

असावधानी से किसी प्राणी का अहित करना हिंसा है। प्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा की व्याख्या इस प्रकार है—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमत्तयोग अर्थात् राग-द्वेषयुक्त क्रिया और असावधान प्रवृत्ति से जो प्राणवध हो वह हिंसा है। प्राण से अर्थ है—मन, वचन, काया, पांच इन्द्रियां, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास। इनमें से किसी का भी हमारे रागद्वेषपूर्ण भावों द्वारा या असावधानी के कारण अहित होगा, हम हिंसा के दोषी होंगे। हिंसा का मुख्य अंग तो हमारा प्रमाद अर्थात् कुमनोभाव और असावधानी है, प्राणों का हनन तो उसका परिणाम मात्र है। यदि हमने प्रमाद किया और उसका परिणाम प्राणहनन नहीं हुआ तो भी हम हिंसा के दोषी हो गये। हम तो दोषी उसी समय हो गये जब हमारे मन में कुभाव या असावधानी आई, जिससे हम अपनी आत्मा को तो कलुषित कर चुके, उससे हनन कर चुके, उस पर कर्मों का आवरण डाल कर अशुद्ध कर चुके, उससे हिंसा तो कर चुके। इस प्रकार अहिंसा-पालन का अर्थ हुआ—प्रमाद अर्थात् राग-द्वेषादि और असावधानी से मुक्त होना और यही है आत्म-विकास, आत्मा को दूषणों से मुक्त करने का मार्ग। जिस हद तक हम मुक्त होंगे उस हद तक हम सुख की नींव डालेंगे। पूर्णरूप से राग-द्वेष और असावधानी से मुक्त होने से हम पूर्ण अहिंसक, पूर्ण शाश्वत सुख के भागी अर्थात् परमात्म-पद के अधिकारी बनेंगे।

राग-द्वेषादि प्रमादरहित होना आसान बात नहीं है। इस मार्ग पर चलने की योग्यता भी बिरलों में ही होती है। हम चारों तरफ लोगों के मनोभावों को देखकर यह आसानी से समझ सकते

हैं कि इन दोषों से छूटना, इन्हें कम करना भी कितना कठिन है। हमारा स्वयं का अनुभव भी इसी बात की साक्षी देता है। रागद्वेष से छूटने के लिए, जिनमें सभी कुभावनाओं—क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि का समावेश हो जाता है, शिक्षा की आवश्यकता है। पर जिस प्रकार अन्य शिक्षा भी प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इन कुभावनाओं, कषायों, कलुषित मनोभावों से मुक्त होने की शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्रहण कर मनोभावों को शुद्ध करना असंभव है। जो पात्र होते हैं वे ही ग्रहण कर लाभ उठा सकते हैं। ऐसा बालक जो उच्छृङ्खल है, पढ़ाई से घृणा करता है, मंदबुद्धि है, शिक्षकों के अनुशासन में नहीं रहता है और सहपाठियों के साथ प्रेम, सहयोग, मित्रता आदि से नहीं रह सकता, वह कदापि शिक्षा का पात्र नहीं है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में तीव्र कुभाव या कषाय हैं वह अहिंसा की शिक्षा या साधना का पात्र नहीं हो सकता।

अहिंसा की साधना आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास है इसलिए पूर्व जन्मों के कुकृत्यों के फलस्वरूप गाढ़े कर्मावरणों के कारण या कुसंस्कारों के कारण इस जन्म में उसकी आत्मा बहुत मलीन है तो वह आत्मविकास की शिक्षा का नहीं अपितु वह दया का पात्र है। इसी प्रकार ऐसा व्यक्ति जिसमें मनुष्यत्व ही न हो, जो न समाज के प्रति अपना कोई कर्त्तव्य मानता हो, न अन्य मनुष्यों के प्रति, अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या, ऐसा व्यक्ति जो सद्व्यवहार तो समझता ही नहीं है किन्तु येन केन प्रकारेण केवल अपना स्वार्थ साधने में लगा रहता है या इन्द्रियभोगों

में अंधा रहता है, जो किसी भी कार्य को कुकार्य नहीं समझता वह कदापि अहिंसा-साधना के उपदेश या शिक्षा का पात्र नहीं हो सकता। इस प्रकार नीच प्रकृति वाले, क्रूर स्वभावी, अज्ञानी, स्वार्थांध, महान् लोभी, दूसरों को दुःखी देखकर आनन्द मानने वाले, केवल भोग-विलास को ही जीवन का ध्येय मानने वाले व्यक्ति कभी अहिंसा-साधना के उपदेश के पात्र नहीं हो सकते क्योंकि ये तो रागद्वेष में दबे हुए हैं। ऐसों को हम स्वार्थांध, कृष्णपक्षी या भवाभिनन्दी कह सकते हैं।

इसके विपरीत अहिंसा-साधना के उपदेश का पात्र वही है जिसके संस्कार निर्मल हों, हृदय में उदारता, निर्लोभता, अदीनता, करुणा, सरलता, विवेक आदि सद्गुण हों, जो घोर कुकर्म न करे, संसार के भोगों में लिप्त या अंधा न हो गया हो तथा कौटुम्बिक, लौकिक, धार्मिक प्रवृत्तियों में न्याययुक्त मर्यादा का पालन करता हो। ऐसे व्यक्तियों में राग-द्वेष हलके होते हैं। ऐसा व्यक्ति घोर कर्मों का बन्धन नहीं करेगा, आत्मा पर घोर कर्मों का आवरण या मैल नहीं लगाएगा। ऐसे व्यक्ति को अपुनर्बंधक कहते हैं। बंजर भूमि उपजाऊ नहीं होती, अच्छी ही हो सकती है इसी प्रकार भवाभिनन्दी अहिंसा-साधना का पात्र नहीं हो सकता, केवल अपुनर्बंधक ही हो सकता है। इन सद्गुणों वाला व्यक्ति केवल आत्मोन्नति का ही पात्र नहीं है किन्तु वह इस जीवन में भी सर्वप्रिय, सर्वमान्य, शान्त और प्रसन्नचित्त, प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला और जीवन में सफल और सुखी मनुष्य बनता है। अपुनर्बंधक की आत्मा निर्मल है, उसमें राग-द्वेष कम है पर उसकी

निर्मलता में विकास की अभी बहुत गुंजाइश है। उसकी आत्मा जनसाधारण की अपेक्षा से शुद्ध, कम कर्ममैल वाली, बहुत गाढ़े कर्म-पुद्गलों से मुक्त है पर यह शुद्धता वास्तव में बहुत अल्प है। अब भी उस व्यक्ति में बहुत कमजोरियाँ, दूषण और कर्म-मैल अथवा मलीनता है और अहिंसा के साधक को तो बहुत आगे बढ़ना है। यह अपुनर्बंधकता एक प्रकार से प्राथमिक कक्षा है और उसे आगे बढ़ने के लिए अपने गुणों का विकास करना होगा, अपनी आत्मा को और निर्मल बनाना होगा, अपनी त्रुटियों को कम करना होगा। उसकी इस शिक्षा को, उसके अध्ययन-क्रम को प्राथमिक शिक्षा या पूर्वसेवा कहेंगे। इसके मुख्य चार भेद हैं :—

प्रथम है गुरु सेवा। गुरु से तात्पर्य है जो हमारे हितेच्छु हैं, हमें सन्मार्ग पर चलाना चाहते हैं, हममें अच्छे गुण उत्पन्न करना चाहते हैं, जिनसे हमको उन्नति की प्रेरणा मिलती है, जो हमारा आत्मबल बढ़ाते हैं, हमें बुराइयों से बचाते हैं, जिनके अनुभवों से हम लाभ उठा सकते हैं और जिनकी आज्ञा में रहकर, जिनका अनुकरण कर, हम अपने गुणों की, योग्यता की वृद्धि कर सकते हैं और जीवन को शान्त, सफल और सुखी बना सकते हैं। गुरुसेवा, जनसेवा और लोकसेवा का प्रशिक्षण है। ऐसे गुरु हैं हमारे माता-पिता, शिक्षक, वृद्ध लोग, त्यागी, संयमी, धर्मोपदेशक और देशसेवक आदि। इनका मान करना, इनकी आवश्यकता पूरी करना, इनकी सहायता करना आदि गुरुसेवा है।

दूसरा भेद है देवपूजा। देव से तात्पर्य है वे महान् आत्माएं, पूज्य पुरुष जो अपने उत्तम गुणों और उपदेशों के कारण से देव

रूप में पूजे जाते हैं और जिनकी पूजा से हमें भी प्रेरणा मिलती है अपना आचरण सुधारने की, सद्गुण उपार्जन करने की, आत्म-बल प्राप्त करने की। ऐसे देव की पूजा करना अर्थात् उनके गुणों को याद करना और उनसे प्रेरणा प्राप्त करना देवपूजा है। यहाँ गुरु और देव से किसी मत या सम्प्रदायविशेष के गुरु या देव से मतलब नहीं है क्योंकि अपुनर्बंधक की आत्मा इतनी विवेकपूर्ण नहीं है कि वह इन बातों को समझ सके।

तीसरा भेद है सदाचार। इससे तात्पर्य है उन सब बातों से जिनसे मनुष्य का चरित्र-गठन होता है, उसका जीवन सुमार्ग में ढलता है, आत्मबल बढ़ता है। यह संसार में सफलता की कुंजी है। इसमें समाविष्ट हैं परहित करना, अपने आश्रितों के हितों का ध्यान रखना, दीन, हीन, अशक्त, अपंगों की सहायता करना, उन्हें दान देना, जगत् में निन्दा हो ऐसे कार्य न करना, परनिन्दा न करना, सद्गुणियों की प्रशंसा करना, सत्य आचरण करना, अनीति से बचना, प्रमाद न करना, शुद्ध व्यवहार करना, दुखों से नहीं घबराना, दुखों का दृढ़ता से मुकाबला करना, सुख में अभिमान न करना, किसी देव या धर्म से द्वेष न रखना इत्यादि। ये सब गुण स्व-अनुशासन, आत्म-नियंत्रण से आते हैं। इन आत्म-नियंत्रण के साधनों को तप कहते हैं। खाने-पीने में तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्वानुशासन से जीवन सदाचारी बनता है और इन्द्रियलोलुपता से तथा अन्य कुसंस्कारों से बचता है। इसी उद्देश्य से तप किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और परिग्रह, धन, ऐश्वर्य पर मूर्च्छा कम करने के प्रयास

किये जाते हैं। ये सब भी तप हैं।

अन्तिम भेद पूर्वसेवा सब से अधिक महत्त्व की वस्तु है। मोक्ष से अद्वेष जिसका तात्पर्य है। संत पुरुषों, त्यागियों के हितकारी बचनों को सुनने के सदा भाव रखना, ऐसे लोगों से सम्बन्ध रखना, ऐसा साहित्य पढ़ना जिससे उत्तम गुणों की वृद्धि हो, कुमार्गों और दुर्व्यसनों से बचा जावे और सद्‌गुणों की वृद्धि हो। यह अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय है इसलिए अन्य सब पूर्वसेवा के उपायों से भी श्रेष्ठ है। ये सब राग-द्वेषादि दोष और प्रमाद कम करने के मार्ग हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि पूर्वसेवा में जो बातें बताई गई हैं उनका किसी धर्म या सम्प्रदायविशेष से सन्बन्ध नहीं है, किन्तु वे सब लोकहितकारी बाते हैं, लोक-धर्म हैं, लौकिक व्यवहार हैं। अपुनर्बंधक व्यक्ति प्रथम कक्षा का व्यक्ति है इसलिए उसमें धर्म के गूढ़ तत्त्वों के समझने की योग्यता नहीं होती, सत्य, देव, गुरु या धर्म को पहचानने की या समझने की योग्यता नहीं होती। पर यह पूर्वसेवा इन बातों को समझाने तथा आगे की कक्षा के लिए योग्यता, नींव तैयार करती है। पूर्वसेवा से जो गुण प्राप्त होते हैं वे हमारे सांसारिक जीवन की सफलता की भी कुंजी हैं, वह आजीविका उपार्जन की तथा अन्य जीवनक्षेत्रों में उन्नति करने की भी योग्यता बढ़ाती है।

पूर्वसेवा चारित्र-गठन की शिक्षा है। वह ऐसे व्यक्ति तैयार करती है जो संसार के लिए एक अमूल्य निधि है। संसार में जो भी अच्छे विचार, अच्छे आचार और शान्ति और सुख हैं वे ऐसे

ही व्यक्तियों पर आधारित हैं, न कि धन-कुबेरों या योद्धाओं या राजनीतिक नेताओं पर ।

पूर्वसेवा से मनुष्य में और भी अनेक गुण प्रकट होते हैं जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होते हैं और उसमें आगे की कक्षा की योग्यता उत्पन्न करते हैं। वह सन्मार्ग पर चलने से नहीं उकताता। अखेदभावना के कारण वह शुभ कार्यों को लगन से करता है। उसे उन्हें किसी प्रकार कर-कराकर पिंड छुड़ाने की (उद्वेग) भावना नहीं रहती, न ऐसे कार्य करते समय मन डांवाडोल (क्षेप) होने लगता है। अपनी आत्मा को विकसित करने और अपने संस्कार सुधारने की चेष्टा से उकताता (उत्थान) नहीं है। अपने सद्विचारों और सद्गुणों को दृढ़ करने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और मूर्छा-त्याग के व्रत लेता है और संतोष और हृदय की शुद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसमें आत्मोन्नति के सत्-साहित्य पढ़ने की और स्वाध्याय करने की रुचि बढ़ती है। चित्त में स्थिरता आती है, सत्य तत्त्व जानने की और समझने की रुचि होती है जिससे वह जन्म-मरण, सुख-दुःख के कारणों को, संसार की विडम्बनाओं को समझ सके। इस प्रकार उसके लिए आगे का मार्ग प्रशस्त और सुलभ होता है।

वह जो भी कुछ करता है, कीर्ति के लिए नहीं करता, न इस जन्म में या परलोक में ऐश्वर्य या भोग मिले इस दृष्टि से, न लोगों के देखा-देखी किन्तु वह यह सब कुछ अपना कर्तव्य समझ कर और ऊपर बढ़ने की साधना समझ कर करता है।

ऐसे पुरुष की जगत् में कीर्ति होना स्वाभाविक है पर न तो उस कीर्ति से वह फूलेगा और न कीर्ति बढ़ाने की चेष्टा करेगा। ऐसे व्यक्ति का संसार आदर करेगा, उसे प्रत्येक कार्य में सहयोग देगा, इससे उसे अपने कार्य में सफलता मिलेगी इसका वह जरा भी अभिमान नहीं करेगा। शुभ कार्यों का पुनर्जन्म में भी शुभ फल मिलना स्वाभाविक है पर उसका ध्येय तो इससे भी ऊंचा उठना है, इसलिए वह जो कुछ भी करेगा, फल की आशा की अपेक्षा किये बिना ही करेगा। इस प्रकार उसकी चित्तवृत्ति शान्त रहेगी. राग-द्वेषादि दोष कम होंगे, बुद्धि निर्मल रहेगी, विवेक जाग्रत रहेगा, दृष्टिकोण सन्तुलित रहेगा, अहिंसा की साधना की पात्रता बढ़ेगी, आगे चलकर उसके मन में प्रकृति के विषय में, सुख-दुःख प्राप्ति में भेद के विषय में, मनुष्यों के स्वभाव के विषय में अनेक प्रश्न उठेंगे, उसे सब कुछ जानने की जिज्ञासा होगी, देश और विदेशों के वर्त्तमान तथा भूतकाल के विद्वानों के इन विषयों में विचार जानने-समझने की इच्छा उत्पन्न होगी, सत्य क्या है. मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसे क्या करना चाहिए इस पर वह विचार करने लगेगा, वह इस प्रकार से विचारक बनेगा। इसी प्रकार से शुद्ध मन से आग्रहरहित होकर वह विचार करेगा तो इन सब प्रश्नों के हल अर्थात् धर्म सुनने की इच्छा जाग्रत होगी, धर्म के प्रति प्रीति, अपने प्रश्नों, शंकाओं का समाधान हो इस दृष्टि से गुरु से सम्बन्ध और उसकी सेवा, आदर्श पूर्णात्मा अर्थात् देव के प्रति भक्ति उत्पन्न होगी। इसी तरह विकास करते हुए उसमें कुछ विशेष गुण उत्पन्न हो जायेंगे।

(१) उसमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण मन्द होते जाते हैं (प्रशम)।

(२) उसे विश्वास हो जाता है कि आत्मा पर कुभावनाओं और अनुचित प्रवृत्ति के कारण जो मैल चिपक जाता है, कर्म का आस्रव और बंध हो जाता है उसे हटाने के लिए शुद्धाचरण, संवर और निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है। उसे प्रेरणा मिलती है कि यदि वह भी इस मार्ग पर चलेगा तो इस जन्म में नहीं तो भविष्य में किसी जन्म में वह अवश्य शुद्ध आत्मा, परमात्मा बन सकता है (संवेग)।

(३) अपने अनुभव से उसे विश्वास हो जाता है कि संसार में सुख-दुःख का जोड़ा है, अमिश्रित सुख नहीं है। अमिश्रित शाश्वत सुख आत्मा का धर्म है, स्वभाव है। उसके दुःख से मिश्रित होने का कारण आत्मा से अन्य वस्तुएं अर्थात् शरीर और अन्य सांसारिक वस्तुएं हैं इसलिए उस आंशिक सुख के पीछे पागल होकर वह अपना ध्येय शाश्वत सुख से न हटाएगा (निर्वेद)।

(४) अच्छी तरह समझ कर सोच-विचार करने से वह नीचे लिखे परिणामों पर पहुंचेगा और उन पर अपनी मान्यता दृढ़ कर लेगा : (क) देव वही है जो राग-द्वेषादि दुर्गुणों से पूर्ण मुक्त और अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्दस्वरूप है। (ख) धर्म वही है जो मनुष्य को मुक्ति का, पूर्ण सुख का, पूर्णता का, परमात्मपद प्राप्त करने का मार्ग बतलाए। जो यह बतलाए कि संसार में मूल वस्तुएं—तत्त्व क्या हैं, जीव भी एक तत्त्व है उसका अन्य तत्त्वों से क्या सम्बन्ध है, उनमें पारस्परिक क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और

क्यों होती है और जीव अर्थात् आत्मा किस प्रकार अन्य विजातीय पदार्थों से पीछा छुड़ाकर शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। (ग) जो ऊपर बताये हुए देव की पहचान कराते हैं, देव अर्थात् परमात्मा के बताये मार्ग पर ज्ञान और श्रद्धापूर्वक चारित्र का पालन करते हैं और संसार को उसी मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं जिससे लोग मोक्ष के मार्ग पर चलें, वे ही गुरु हैं (आस्तिक्य)।

(५) दीन-दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा, दया करेगा।

उपर्युक्त पांच लक्षणों वाला व्यक्ति स्वभावतः ही (१) सब प्राणियों के प्रति मैत्री रखेगा, (२) सब प्राणियों के प्रति करुणा रखेगा, (३) गुणी व्यक्तियों को देख कर प्रमुदित होगा—प्रमोद करेगा और (४) दुर्गुणियों पर और उन पर भी जो उसका भी अहित सोचते हैं, अपमान करते हैं, क्रोध या द्वेष नहीं करेगा किन्तु माध्यस्थ्य-भाव, उपेक्षा-भाव रखेगा और यह सोचेगा कि उसके पूर्व कर्मों के कारण वह ऐसा करता है, अपनी आत्मा का पतन करता है इसलिए दया का पात्र है।

जो व्यक्ति अपने विचारों को इस प्रकार ढाल लेता है और उन विचारों के अनुसार जीवन ढालने की चेष्टा करता है उसका व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का बन जाता है। (१) चित्त डांवाडोल नहीं रहता किन्तु चित्त में स्थिरता आ जाती है। (२) भगवान् के मन्दिरादि देव स्थानों को शुभ प्रेरणा का स्रोत समझकर उनकी सम्भाल रखने का ध्यान रखता है। (३) चारित्र को दृढ़ और समुज्ज्वल बनाने वाले, आत्मबल और मन को शक्ति देने वाले, सुविचारों की प्रेरणा देने वाले, आत्मोन्नति कर आत्मा को शुद्ध बनाने और

अशुद्धियों से बचाने के विचार पैदा करनेवाले, सत्य मार्ग बताने वाले सत्साहित्य-ग्रन्थों, पुस्तकों का अध्ययन, श्रवण और मनन कर अपनी आत्मा की किस प्रकार उन्नति करे यह सोचता है। (४) अपने विचारों और आचरणों को शुद्ध रखने और शुभ बनाने के हेतु देव-गुरु की भक्ति करना है और (५) किस प्रकार अन्य लोग भी भगवान् के उपदेशों से, उनकी जीवन-कथा से अपना जीवन उन्नत करने की प्रेरणा पावें ऐसे उपाय अर्थात् प्रभावना करता है।

ऐसे व्यक्ति का ज्ञान ऊपरी ज्ञान नहीं होता है किन्तु अच्छी तरह से समझपूर्वक प्राप्त किया हुआ होता है। उसकी श्रद्धा ऊपरी, दिखावटी या अंध श्रद्धा नहीं होती किन्तु सोच-विचार कर अनुभव पर आधारित सत्य श्रद्धा होती है इसलिए उसमें शंका की गुंजाइश नहीं होती। उसका ध्येय अपने आपको आध्यात्मिक क्षेत्र में उठाना, आत्मा को शुद्ध और उन्नत करना होता है, उसे अन्य किसी संसारी लाभ की आकांक्षा ही नहीं होती। उसको कभी यह सन्देह ही नहीं होता कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है वह उसे गन्तव्य स्थान पर ले जाएगा या नहीं। वह आत्म-विश्वास के साथ प्रगति करता है। उसे विचिकित्सा नहीं होती। उसमें इतना मनोबल है कि वह किसी स्वार्थ या खुशामद या डर से या लोगों को खुश करने या अन्य किसी कारण से धूर्तों, पाखंडियों की तारीफ करके कुमार्ग को प्रोत्साहन नहीं देता।

ये योग्यताएं रूढ़िरूप में क्रियाएं करने से यानी रूढ़िरूप में देव-गुरु की पूजा करने से या कीर्ति के लिए, धन के दिखावे के लिए आडम्बरपूर्वक प्रदर्शन करने से नहीं आतीं। ये तो

रागद्वेष बढ़ाने के उपाय हैं। इनसे अभिमान और ईर्ष्या बढ़ते हैं। इस योग्यता के लिए, एक ओर तो पूर्व भवों के बांधे हुए कर्मों का हलकापन और तीव्र कलुषित कुभावनाएं उत्पन्न करनेवाले कर्मों से छुटकारा और दूसरी तरफ सत्य पर आधारित ज्ञान, श्रद्धा पर आधारित पुरुषार्थ चाहिए। ऐसा होने से मनुष्य उस भारी दीवार को तोड़ता है, उस गांठ का भेदन करता है यानी ग्रंथि-भेद करता है जो उसे अन्तिम ध्येय प्राप्त करने में बाधक है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह आध्यात्मिक महाविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास करना है जब कि अपुनर्बंधक होना प्राथमिक कक्षा में प्रवेश करना है। वह मोक्षमार्ग का पथिक है, सम्यग्दर्शी है, योगी है।

यह कक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण होने पर भी बहुत नीची है। इस कक्षा में प्रवेश पाया हुआ व्यक्ति अपने विचारों के अनुकूल आचरण नहीं कर सकता। वह अहिंसा को, आत्मा के स्वभाव को, मोक्ष को और उसके महत्त्व को, उसके बाधक और सहायक तत्त्वों को अच्छी तरह समझने लग गया है पर संयम की शक्ति का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ है, अभी त्यागशक्ति विकसित नहीं हुई है, अभी व्रत अंगीकार करने की योग्यता, पात्रता प्राप्त नहीं हुई है. वह अविरत सम्यग्दर्शी है।

उसने प्राथमिक कक्षा में यद्यपि अहिंसादि पांचों नियमों का पालन किया है पर वह लोकहित और लौकिक दृष्टि से ही या रूढ़ि के रूप में ही किया है, क्योंकि उस समय उसे आध्यात्मिक दृष्टि का ज्ञान ही नहीं था। पर अब उसकी आध्यात्मिक दृष्टि जाग्रत

हुई है इसलिए उन व्रतों को दूसरी दृष्टि से देखता है। पूर्व शिक्षा के कारण उन्हें पालने में यद्यपि कठिनाई नहीं होती, पर अब उसका दृष्टिकोण दूसरा है, इसलिए उनके पालन में विशेष प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यदि उसमें पुरुषार्थ नहीं है तो वह इस कक्षा तक नहीं पहुँच सकता। इसलिए उसे अब उन व्रतों को, अपनी आत्मा को पवित्र करने, रागद्वेष, प्रमाद से छुटकारा पाने, अपने कर्ममैल को हटाने या कम करने या नये कर्म का बंधन रोकने के साधनरूप में देखना है और इस दृष्टि से उन्हें पालन करने योग्य पुरुषार्थ उपार्जन करने की वह चेष्टा करता है। इस-लिए वह योग्य गुरु के पास जाता है। गुरु उसकी योग्यता का मूल्यांकन करता है। गुरु महान् त्यागी और स्व-पर आत्म-कल्या-णकारी है। उसमें अपनी पूजाप्रतिष्ठा के लिए भक्त बनाने की लालसा नहीं है इसलिए वह अयोग्य, अपात्र को व्रत नहीं दिलाता क्योंकि वह जानता है कि अपात्र को व्रत दिलाने से सच्चे व्रतधा-रियों की अवहेलना होती है, अयोग्य व्रत लेने वाले का स्वयं का पतन होता है तथा वह दूसरों का भी पतन करता है और धर्म की भी हीनता होती है। वह तभी व्रत दिलाता है जब उसे यह संतोष हो जाता है कि जो सम्यक्त्व के गुण ऊपर बताए गए हैं वे उसमें वास्तव में हैं। और फिर भी यह दृष्टि सामने रखना है कि यह नियम पूर्ण निवृत्ति के उद्देश्य से नहीं है किन्तु निवृत्ति की शिक्षा के रूप में है और यह ध्यान रखना है कि वह नियम उसके गृहस्थी के कर्त्तव्यपालन में बाधक न हो और आसानी से पालन हो सके। वह रोग के अनुसार औषधि देता है, पात्रता के अनुसार

व्रत दिलाता है।

व्रत लेने वाला भी यह ध्यान रखता है कि यह व्रत उसके अपने गृहस्थीसम्बन्धी परिवार, समाज, देश और संसार के प्रति उत्तरदायित्व निभाने और कर्तव्यपालन में बाधक न हो किन्तु सहायक हो। अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा का, उनको सुसंस्कार देने का, आत्म-सम्मान के साथ आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की योग्यता उत्पन्न करने का, अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य बनाने का उसका कर्त्तव्य है। धर्म के नाम पर इन कर्तव्यों से विमुख होना हिंसा है, अहिंसा की आत्मोद्धार की साधना नहीं। व्रतों का उद्देश्य यही है कि आजीविका इस प्रकार उपार्जन करे तथा अन्य उत्तरदायित्व इस प्रकार निभावे कि सत्य मार्ग में, नैतिकता में बाधा न आवे और वह निर्दोष आहार और रहन-सहन रखे तथा धर्म में प्रेरणा मिले ऐसी और इस दृष्टि से धार्मिक क्रियाएँ करे, धनादि देता रहे, इत्यादि।

वह व्यक्ति सदा सद्विचारों में अपना मन लगाएगा, शुभ प्रेरणा मिले ऐसे तीर्थस्थानों की यात्रा करेगा, धर्म का असली तात्त्विक रूप बताए ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करेगा और निजी कमजोरियों का, दूषणों का, सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करता रहेगा और आगे बढ़ने की अपनी योग्यता बढ़ाएगा।

इस प्रकार पात्रता प्राप्त करके वह अणुव्रत लेता है। वे व्रत इस प्रकार हैं :

१. अहिंसाणुव्रत अथवा स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत—इस व्रत की इतनी ही मर्यादा है कि किसी निरपराधी स्थूल (अर्थात्

सूक्ष्म जल. वायु, पेड़, पौधे इत्यादि प्राणियों के अतिरिक्त) प्राणी को संकल्प करके अर्थात् मारने के इरादे से न मारे या कष्ट दे। यह व्रत किसी भी प्रकार गृहस्थ को अपने जीवनयापन में अथवा उत्तर-दायित्व निभाने में बाधक नहीं हो सकता है।

२. स्थूल मृषावादविरमण व्रत अर्थात् कटु अहितकारी वचन का त्याग तथा लोकनिन्दनीय असत्य का त्याग।

३. स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत अर्थात् पराई वस्तु न ले, दूसरों का अधिकार न छीने, अपने पास से दूसरों को कुछ देने का उत्तरदायित्व हो उससे विमुख न हो इत्यादि अर्थात् राज्य द्वारा दंडनीय, लोक द्वारा निन्दनीय, अनैतिक और अन्य के अधिकार-हरण जैसे कृत्यों का त्याग।

४. स्थूल ब्रह्मचर्य व्रत—जनसाधारण के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन असंभव है। साथ ही इस क्षेत्र में मर्यादा नहीं रहने से मनुष्य विवेक-हीन, इन्द्रियों का दास होकर समाज के लिए एक शाप और महान् अनिष्ट का एक कारण बन जाता है इसलिए इस व्रत द्वारा यह मर्यादा-व्रत स्वीकार किया जाता है कि अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय (अथवा अपने विवाहित पति के सिवाय) अन्य सब स्त्रियों (अथवा पुरुषों) के प्रति पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करे।

५. स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि की सीमा रखी जाय। गृहस्थ को अपनी उदरपूर्ति तथा अन्य उत्तर-दायित्व निभाने के लिए धन की आवश्यकता होती है और समय के परिवर्तन के साथ इस आवश्यकता का रूप तथा उसका परिमाण भी बदलता है और संचय करना भी समय और परिस्थितियों के

अनुसार आवश्यक होता है। इस व्रत का आशय यह नहीं कि मनुष्य शक्ति होते हुए भी धर्म के नाम पर अकर्मण्य या पुरुषार्थ-हीन होकर बैठ जाय या परमुखापेक्षी बन जाय या अपने कुटुम्व के भरण-पोषण, स्वास्थ्य-शिक्षा के उत्तरदायित्व से विमुख हो जाय। इस व्रत का उद्देश्य मनुष्य की लोभप्रवृत्ति पर नियंत्रण रखना है, वह प्रवृत्ति जो धन को साधन नहीं मानकर जीवन का मुख्य ध्येय मान लेती है और उसे प्राप्त करने में अन्य के अधिकारों को, स्वामित्व को भी हड़प करते नहीं चूकती। ऐसे लोग सदा दूसरों का शोषण करना, अनीति आदि कुप्रवृत्तियों को अंगीकार कर, राज्य-दंड की भी परवाह न कर धन एकत्र करना, संचय करना इत्यादि अपना जीवनक्रम वना लेते हैं। इन कुप्रवृत्तियों के प्रति नियंत्रण रखना अपनी आत्मा को पतन से बचाने के लिए तथा समाज के हित, सुख, शान्ति के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से मनुष्य अपने धनसंपत्ति आदि का परिमाण—सीमा बाँधता है जिसमें उसकी मूर्च्छा पर नियंत्रण रहे।

अहिंसा के नियम के इस प्रकार पाँच भेद इस दृष्टि से किये गये हैं जिससे मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को वह प्रभावित करे।

योग्यता प्राप्त कर इन व्रतों को अंगीकार करने वाला मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकास में एक कक्षा ऊपर चढ़ जाता है और देशविरत सम्यग्दर्शी हो जाता है। हम उस व्यक्ति की बात नहीं कर रहे हैं जो शोभा या लोकदिखावे के लिए व्रत अंगीकार करता है वल्कि हम उस व्यक्ति के विषय में विचार कर रहे हैं जो अध्यात्म-मार्ग पर आगे बढ़ने को उत्सुक है, अपनी आत्मा को नये कर्मास्रव

से बचाकर और पुराने कर्मावरण से छुटकारा पाकर राग-द्वेष और प्रमाद छोड़ने की शिक्षा पाकर अहिंसा की और आत्मकल्याण की साधना और पूर्ण सुख प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसा व्यक्ति जिसकी उन व्रतों के पालन द्वारा योग्यता बढ़ती है वह और ऊपर की कक्षा यानी सर्वविरति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह अपनी सीमाओं की मर्यादाओं को क्रमशः अपनी परिस्थितियों के अनुसार घटाता जाता है। इस मार्ग में उसे सहायता देने के लिए तीन गुणव्रतों की योजना की गई है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) दिशापरिमाण व्रत—अणुव्रत स्वीकार करके उसने परिग्रहपरिमाण व्रत लिया है। परिग्रह कम करने का एक उपाय है कार्यक्षेत्र की सीमा कम करना। इस गुणव्रत द्वारा वह सीमा—हद नियत करता है कि उस हद के बाहर वह किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करेगा। यहाँ एक और बात विचारणीय है। जो व्रत लेता है वह विवेकी पुरुष है और उसे देश-काल का ज्ञान है और वह व्रत जड़रूप में नहीं किन्तु एक सद् उद्देश्य से ग्रहण करता है। वह जानता है कि किसी समय भारत ऐसे गाँवों का देश था जिसका प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर था, उस समय अपने कार्यक्षेत्र सीमित करने का एक अर्थ होता था और आज विज्ञान ने दुनियाँ को ऐसा रूप दे दिया है कि कोई भी गाँव या नगर या देश आत्मनिर्भर या स्वाश्रयी नहीं है। ऐसी स्थिति में कार्यक्षेत्र सीमित नहीं किया जा सकता। पर इन बातों को ध्यान में रखते हुए वह अन्य प्रकार से परिग्रह को सीमित करने की दृष्टि से

अपने कार्यक्षेत्र को अन्य रीति से सीमित करेगा जिससे उद्देश्य की भी पूर्ति हो सके और आजीविका में और गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियां निभाने में भी बाधा न आवे।

(२) भोगोपभोगविरमण व्रत--मनुष्य प्रवृत्ति करता है इसलिए कि वह पैसा कमाये और उसे सुखभोग में लगाये। अगर वह इस भोगोपभोग की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करता है तो उसी हद तक उसे धन की आवश्यकता कम हो जाती है और परिग्रह की सीमा कम करने में सहायता मिलती है अर्थात् उसके जीवन में सादगी आ जाती है और आत्म-विकास में सहायता मिलती है, असत्य और चोरी इत्यादि के अवसर भी कम होते जाते हैं। यद्यपि पहले व्रत में निरपराधी स्थूल प्राणियों को इरादापूर्वक नहीं मारने का ही व्रत है पर उसकी प्रवृत्तियों से स्वाभाविक सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा तो अनिवार्य होती ही है। अब उस व्यक्ति को और ऊपर उठना है तो उन प्रवृत्तियों में भी वह विचार करेगा कि किन-किन प्रवृत्तियों को छोड़ा जाय। इस विचार में भी वह पुस्तकों में लिखे ऐसे कार्यों—कर्मादान का जड़रूप से पालन नहीं करेगा, पर आज की स्थिति में किन-किन के विषय में व्रत लेना चाहिए यह विवेकपूर्वक निश्चय करना चाहिए जिससे उद्देश्य की पूर्ति भी हो और आजीविका में तथा अपनी गृहस्थ की जिम्मेदारी निभाने में भी बाधा न आवे। उदाहरणार्थ इस विषय की पुस्तकों में गाड़ी बनाना या भाड़े देना कर्मादान होने से त्याज्य बताया गया है। इससे कोई इनके सम्बन्ध में व्रत लेकर समझे कि उसने एक शुभ कार्य किया तो उन व्रतों का मजाक करना होगा। आज तो इतने

उद्योग-धन्धे, कल-कारखाने हो रहे हैं कि गाड़ी बनाने इत्यादि की अपेक्षा हिंसा उनमें कहीं अधिक है। साथ ही जीवन भी ऐसा हो गया है कि उनके बिना कोई काम नहीं चल सकता। इसलिए इस व्रत का पुराने जमाने के रूप में पालन नहीं हो सकता, इस बात को स्वीकार नहीं करना वास्तविकता से आंखें बन्द करना है और बिना पात्रता प्राप्त किये उनका पालन करना आजीविका में बाधक होता है जो कि व्रतों के उद्देश्य के विपरीत है।

यदि देश-काल की दृष्टि से हम विचार करें तो आज की परिस्थिति में भी एक बड़े महत्त्वपूर्ण ढंग से इन दोनों व्रतों का पालन हो सकता है जो असली रूप में उनके उद्देश्य की पूर्ति कर आत्मोन्नति में और अहिंसा की साधना में बहुत सहायक हो सकता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी संतान को इस प्रकार की शिक्षा दे और योग्यता बढ़ाये कि वह शीघ्रातिशीघ्र गृहस्थ की जिम्मेदारियां सफलतापूर्वक निभा सके और उसका भार कम कर सके। जब ऐसी स्थिति आ जाय तो वह अपने आप को सब जिम्मेदारियों से बिना किसी के अहित के भय के दूर करके और फिर इन व्रतों द्वारा निवृत्तिमार्ग पर अग्रसर हो अपने आप को ऐसे कार्यों में लगाये कि अपना समय निठल्लेपन में या आलस्य में पूरा न होकर स्व-परहित में लगे। वह इस प्रकार से अपनी प्रवृत्तियों की सीमा कम करते हुए सर्वविरति कक्षा की ओर बढ़ता रहता है।

(३) अनर्थदंडविरमण व्रत—यह तीसरा गुणव्रत है। इसका अर्थ है अनावश्यक हिंसा का त्याग करना, चाहे उसका त्याग पहले व्रतानुसार आवश्यक न हो। पहले व्रत का बन्धन स्थूल प्राणियों

की हिंसा के त्याग तक ही है पर आगे की कक्षा की ओर प्रगति करने वाला हिंसा के अवसर घटाता जाय इस उद्देश्य से ये सब गुणव्रत योजित किए गये। जिस व्यक्ति को दृष्टि में रखकर हम यह सब विवेचन कर रहे हैं वह जानता है कि अहिंसा की साधना के लिए संयम आवश्यक है। इसी दृष्टि से १२ व्रतों की योजना की गई है जिनमें से हम ८ व्रतों का विचार कर चुके हैं। शेष चार व्रत शिक्षाव्रत हैं। उनका उद्देश्य वह प्रशिक्षण देना है जिससे राग, द्वेष, मोह, प्रमाद इत्यादि दूषणों की कमी होकर अहिंसा के पूर्णरूप से पालन की योग्यता बढ़ती जाय।

(१) प्रथम शिक्षाव्रत है सामायिक व्रत अर्थात् सुख में, दुःख में, इष्ट में, अनिष्ट में समता रखना, मन में उद्वेग नहीं आने देना। कोई हमारा हित करे या अहित करे दोनों के प्रति हम समभाव—एक-सा भाव रखे, न एक से प्रसन्न हों और न दूसरे से अप्रसन्न। यह महान् कठिन बात अवश्य है, पर इसका महत्त्व भी महान् है। जिस व्यक्ति में यह शक्ति या गुण आ जाता है उसको दुःख होने का तो कोई अवसर ही नहीं आ सकता। एक महान् लेखक ने सत्य ही कहा है कि स्वर्गसुख और मोक्षसुख तो परोक्ष सुख है पर समता का सुख तो प्रत्यक्ष है और न पराधीन है और न उसके लिए कुछ खर्च करना पड़ता है। यह समता प्राप्त करना सर्वविरति का ध्येय है। उसका व्रत यावत् जीवन— पूरे जीवन के लिए है। पर देशविरत यानी श्रावक प्रशिक्षण पाने के लिए इसको अल्प समय, केवल ४८ मिनट के लिए स्वीकार करता है। यह श्रावक का प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक व्रत है।

(२) दूसरा शिक्षाव्रत देशावकाशिक व्रत है। इसके द्वारा अपनी प्रवृत्तियों को थोड़े समय के लिए सीमित किया जाता है।

(३) तीसरा पोषध व्रत है। यह सामायिक व्रत का विस्तृत रूप है। सामायिक व्रत ४८ मिनट के लिए होता है और यह २४ घंटे या ४८ घंटे के लिए होता है

(४) चौथा अतिथि-संविभाग व्रत है। साधु-साध्वियों की तथा देशविरतियों की अपने-अपने आचारों के नियमों के अनुकूल, दान या दया समझकर नहीं किन्तु कर्तव्य समझकर भक्तिपूर्वक आवश्यकताएँ पूरी करना। अहिंसा के साधकों के प्रति वात्सल्य भाव रखना।

इस प्रकार देशविरत गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों द्वारा सर्वविरत की योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और इस चेष्टा में अपने गृहस्थी के कर्तव्यों में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आने देता। वह अपना ध्येय कुप्रवृत्तियों को छोड़कर पूर्ण अहिंसक बनना, सदा अपनी दृष्टि के सामने रखता है।

वह सर्वव्रती बनना चाहता है पर केवल नाम के लिए नहीं, केवल भेषधारी नहीं। वह सर्वविरति का वास्तविक अर्थ जानता है। वह है शुद्ध संयम का पालन करना। जिसका अर्थ शरीर को निरर्थक कष्ट देना नहीं है, किन्तु आत्मा को दोषों से बचाने के लिए इन्द्रियों को वश में करना है। उसे मन-वचन-काया को पूर्णरूप से अनुशासन में रखना है, उन्हें पराधीन नहीं होने देना है। मन को हर प्रकार के भोग की इच्छा से मुक्त रखना है। केवल बाहरी वस्तुओं—पौद्गलिक परिग्रह की ही नहीं किन्तु आभ्यन्तरिक परि-

ग्रह—रागद्वेष यानी मोह आदि की भी गाँठें काटना है। चित्त को प्रमादरहित रखकर इन सब बातों के द्वारा पूर्ण अहिंसक बनकर मोक्ष प्राप्त करना है। वह जानता है कि सर्वविरति का अर्थ मन को आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर करना और शरीर का महत्व त्याग देना है। उसे ध्यान के अभ्यास द्वारा मन पर काबू लाना होता है, शुद्ध तप द्वारा कर्मों पर विजय प्राप्त करना होता है। उसे मन-वचन-काया से पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना होता है। उसे न हर्ष होता है, न शोक और वह प्रमादरहित होता है। तभी वह अहिंसा की साधना में उत्तीर्ण हो सकता है।

देशविरत यह सब जानता है इसीलिए अपने गुणों के विकास पर ध्यान देता है। वह आत्म-निरीक्षण करता है कि जिस भूमिका अथवा कक्षा में वह अपने आप को समझता है उसकी अपेक्षा से उसमें कोई कमी तो नहीं है, यदि है तो उसे दूर करने की चेष्टा करता है। मनुष्य को अपनी त्रुटियां खुद को नजर नहीं आतीं इसलिए वह जानने की चेष्टा करता है कि दूसरे लोग उसके विषय में क्या विचार रखते हैं।

अपनी योग्यता और दृढ़ता बढ़ाने के लिए स्वयं से ऊंची कक्षा वालों और समान कक्षा वालों से परिचय और सम्बन्ध बढ़ाता है, उनके गुणों का मान करता है और अपने कर्त्तव्यपालन की ओर बार-बार ध्यान देता है तथा स्वयं में जो त्रुटियां नजर आती हैं उनका निवारण करता है। देशविरत इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करता हुआ, अपनी त्रुटियों को हटाता हुआ, ऊपर की श्रेणी सर्वविरति के महत्त्वपूर्ण आचार-विचार का मनन करता

हुआ, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों द्वारा राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि कुप्रवृत्तियों के त्याग के सोपान द्वारा ऊपर चढ़ता है। इस प्रकार उसमें वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है। वह नीचे की कक्षाओं में से योग्यतापूर्वक सफल होता हुआ और उत्तीर्ण होता हुआ देशविरति-कक्षा में आया था, न कि किसी की सिफारिश या और कोई ऐसे कारणों से इसलिए उसका वैराग्य वास्तविक योग्यता, ज्ञान, वह भी सम्यग्ज्ञान पर आधारित है। वह आत्मा और पुद्गल के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रतिक्रिया को तथा उनके परिणामों को समझता है। वह आत्मा के मूल स्वभाव व गुणों को और उनको प्राप्त करने के मार्ग को जानता है। उसका वैराग्य उसी ज्ञान पर आधारित है, न कि किसी निजी कमजोरी पर। संसार के संघर्ष से कायर की तरह भाग कर या सामयिक घटनाओं से श्मशानी वैराग्य के कारण उत्पन्न हुई सांसारिक अरुचि पर उसका वैराग्य आधारित नहीं है, न इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के संयोग से उत्पन्न आर्त्तध्यान पर आधारित है। उसका वैराग्य सत्य ज्ञान, सम्यग्ज्ञान पर आधारित है जो उसे आगे बढ़ने का बल देता है।

वास्तविक ज्ञानाधारित वैराग्य की प्रेरणा से वह आगे की कक्षा में प्रवेश करने के लिए आत्मशिक्षा द्वारा योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और विशेष गुणों का उपार्जन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। वे गुण हैं : (१) धृति अर्थात् धीरज और क्षमा, (२) आत्मिक और धार्मिक क्षमा, (३) सुखासिका अर्थात् वास्तविक अमिश्रित सुख की इच्छा, (४) विविदशा अर्थात्

जिज्ञासा, (५) विज्ञप्ति अर्थात् चारित्र के नियमादि की जानकारी की इच्छा, (६) मेघा, बुद्धि और विचार-शक्ति, (७) अनुप्रेक्षा—संसार में वास्तविकता पर चिन्तन, (८) मैत्री, (९) करुणा, (१०) मुदिता अर्थात् प्रमोद-भावना—अन्य के गुणों पर उल्लास, (११) उपेक्षा अर्थात् किसी के बुरे, अप्रिय आचरण देखकर चित्त में उद्वेग नहीं होने देना।

इन गुणों की प्राप्ति होने पर वह सद्गुरु के पास पंचमहाव्रत अङ्गीकार करने की प्रार्थना करता है। सद्गुरु यहाँ गुणी है। उसे शिष्यमंडल, परिवार बढ़ाने की लालसा नहीं है। उसकी केवल स्व-परकल्याण की भावना है। वह योग्यता और पात्रता बिना किसी को व्रत नहीं दिलाता। वह व्यक्ति की परीक्षा लेकर पात्रता होने पर ही पंचमहाव्रत दिलाकर उसे सर्वविरति की ऊँची श्रेणी में भरती करता है। यह अहिंसा की साधना की अन्तिम सीढ़ी है। यह व्रत इस प्रकार है : (१) सर्व प्राणातिपातविरमण—सब प्रकार के प्राणी-वध से दूर रहना, (२) सर्व मृषावादत्याग—सदा हितमित-सत्य वचन बोलना, (३) सर्व अदत्तादानत्याग—जो वस्तु निज की नहीं है वह बिना अधिकारी के दिये ग्रहण नहीं करना, (४) सर्व मैथुन-विरमण-स्त्री-संग का सर्वथा त्याग, (५) सर्व परिग्रहविरति-घरबार, माल, मिल्कियत के स्वामित्व का त्याग, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखना। इस प्रकार वह अहिंसा की साधना की सबसे ऊँची कक्षा में प्रवेश पाता है। वह अपनी साधना चालू रखता है। वह जानता है कि व्रत अंगीकार करने से ही उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उसने अभी वैराग्य ही प्राप्त किया है,

वीतराग अवस्था नहीं। वह अवस्था सब साधना का अन्तिम ध्येय है जिसकी प्राप्ति से ही वह पूर्ण अहिंसा और पूर्ण शाश्वत सुख का भागी बन सकता है। वह अवस्था प्राप्त करना ही पंचमहाव्रत स्वीकार कर सर्वविरत साधु या श्रमण बनने का ध्येय है। इसलिए वह अपने गुरु के अधीन रहकर गुरुकुल में निवास करता है, विनय और नियमपूर्वक वहाँ के कार्य-क्रम के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का शान्तिपूर्वक पालन करता है, सदा सोचता रहता है कि गुरु के वचन-पालन में ही उसका श्रेय है। वह निर्दोष संवर और त्याग का पालन करता है। शुद्ध भिक्षावृत्ति से, बिना किसी पर भार रूप हुए, शुद्ध जीवन-यापन करता है। शास्त्र-विधि के अनुसार स्वाध्याय करता है और मृत्यु आदि संकटों का सामना करने को तैयार रहता है। इस प्रकार कठोर अनुशासन—संयम और तप—का पालन करता है। क्योंकि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति बिना अनुशासन के असंभव है।

यह है अहिंसा की साधना, आत्मविकास और मोक्ष की साधना, जीवन के प्रतिपल में सुख और सफलता देनेवाली साधना। यही है धर्म-साधना। ज्यों-ज्यों इस मार्ग पर प्रगति करेंगे, हमारे दुःख के कारण और सुख की बाधाएं दूर होती जाएंगी। यदि दुःखों से घबराकर या सुखों में अन्धे होकर हम अपने ध्येय पूर्ण अहिंसा को भूल न जायँ और पथभ्रष्ट न हो जायँ तो हम उसे अवश्य प्राप्त कर लेंगे और उस ध्येय की प्राप्ति में हमारी मृत्यु भी बाधक नहीं होगी। मृत्यु का जोर पुद्गल पर चलता है, अपौद्गलिक आत्मा पर नहीं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

परिचय

वाराणसीस्थित पार्श्वनाथ विद्याश्रम देश का प्रथम एवं अपने ढंग का एक ही जैन शोध-संस्थान है। यह गत ३० वर्षों से जैनविद्या की निरन्तर सेवा करता आ रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक छात्रों ने जैन विषयों का अध्ययन किया है व यूनिवर्सिटी से विविध उपाधियाँ प्राप्त की हैं। अब तक १५ विद्वानों ने पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० के लिए प्रयत्न किया है जिनमें से अधिकांश को सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान में इस संस्थान में ५ शोधछात्र पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिखने में संलग्न हैं। प्रत्येक शोधछात्र को २०० रु० मासिक शोधवृत्ति दी जाती है। एम० ए० में जैन दर्शन का विशेष अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र को ५० रु० मासिक छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था है। संस्थानाध्यक्ष को एम० ए० की कक्षाओं में जैन दर्शन का अध्यापन करने तथा पी-एच० डी० के शोधछात्रों को निर्देशन देने की मान्यता बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से प्राप्त है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना सन् १९३७ में हुई। इसका संचालन अमृतसरस्थित सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा होता है। यह समिति एक्ट २१ सन् १८६० के अनुसार रजिस्टर्ड है तथा इसे इन्कमटैक्स एक्ट, सन् १९६१ के सेक्शन ८८ व १०० के अनुसार आयकर-मुक्ति-प्रमाणपत्र प्राप्त है। समिति ने अब तक पार्श्वनाथ विद्याश्रम के निमित्त लगभग सात लाख रुपये खर्च कर दिये हैं। संस्थान का निजी विशाल भवन है जिसमें पुस्तकालय, कार्यालय आदि हैं। अध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारियों तथा छात्रों के निवास के लिए उपयुक्त आवास है। संस्थान से अबतक नौ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

अन्य हिन्दी प्रकाशन

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १
लेखक—पं० बेचरदास दोशी
मूल्य—रु० १५-००

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग २
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता
मूल्य—रु० १५-००

३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन
लेखक—डा० कोमलचन्द्र जैन
मूल्य—रु० १५-००

४. जैन आचार
लेखक—डा० मोहनलाल मेहता
मूल्य—रु० ५-००

५. प्राकृत भाषा
लेखक—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित
मूल्य—रु० १-५०